मानस-मंदाकिनी

"गौरी-पिता-पद निसृते हे प्रेम वारि तरंगिते !
हे गीत मुखरे शुचि स्मिते कल्याणि भीम मनोहरे !
हे गुहा वासिनि योगिनी, हे कलुष-तट-तरु नाशिनी !
मुझ को डुबा निज काव्य में हे स्वर्ग सरि मंदाकिनी,
मैं बैठ कर नवनीत कोमल फेन पर शशि-विम्व सा,
अंकित करूँगा जननि तेरे अंक पर सुर धनु सदा,
लहरें जहाँ हो जायँगी मैं जाऊँगा जल विन्दु सा,
पीछे न देखूँगा कभी आगे बढ़ूँगा मैं सदा,
हे तट मृदंगोत्तालध्वनिते लहर वीणा वादिनी !
मुझ को डुबा निज काव्य में हे स्वर्ग सरि मंदाकिनी !"

शंभु प्रसाद बहुगुणा

विषय सूची

१—हिन्दी काव्य साहित्य ... ५
२—चन्द्र कुँवर बर्त्वाल ... ८
३—हिमालय प्रेमी कालिदास ... १५
४—मानस-हंसिनी ... १६
५—कुसुम कुंज ... ४२
६—मेघ-पवन ... ५०
७—मुनाल-मोर ... ५३
८—रुद्र गीत ... ५४
९—बिन्दु ब्रह्मचारी ... ५६
१०—रामाधारी सिंह दिनकर ६१
११—जयशंकर प्रसाद ... ६४
१२—मैथिलीशरण गुप्त ... ७१
१३—रसनायक कृत विरह विलास ... ७८
१४— चिन्तामणि-मतिराम-भूषण ... ९०
१५—केशव-बिहारी-सेनापति ... १०३
१६—तुलसी-मानस-विनयावली ... १३५
१७—सहृदय कवि सूरदास ... २०५
१८—यौवन के कवि नंददास ... २२१
१९—नरोत्तमदास ... २३६
२०—रसखान-घनानंद-चन्द्रकुँवर ... २४३
२१—मलिक मुहम्मद जायसी ... २५५
२२—सेनी-रैदास-कबीर ... २६३
२३—कबीर की बाणियाँ ... २७२
२४—स्कंद गुप्त-प्रियम्बदा २८६
२५—किन्नर कालिदास ... २९८

१—हिन्दी-काव्य-साहित्य

हिन्दी-भाषा जिसे आज कल कहा जाता है वह मूलतः खड़ी बोली है, और रचनाओं में उस का भी प्रयोग बहुत पहिले से मिलता है। यहाँ तक कि उस का बोल चाल का स्वरूप सन् ७७८ई० की रचना में उपलब्ध हो जाता है। किन्तु अवधी, बुन्देलखंडी, व्रजभाषा और राजस्थानी तथा मैथिली भी मूल प्रवृत्तियों की समता के कारण, हिन्दी ही हैं। उन्नीसवीं ईसवी शताब्दी से पहिले का हिन्दी का अधिकांश साहित्य इन भाषाओं में रचा गया है, किन्तु आज ये भाषाएँ साहित्यिक रानी खड़ी बोली के पीछे चली गई हैं। इन का साहित्य स्वतंत्र हो गया है, जो बोली मात्र थी वह आज भाषा बन गई है, जो कभी भाषाएँ थीं वे आज बोलियों के स्थान पर चली आई हैं।

हिन्दी की सब से अधिक रचनाएँ राज स्थानी और व्रज भाषा में मिलती हैं। किन्तु मात्रा की बहुलता ही सब कुछ नहीं है, हिन्दी की विशेष गौरव पूर्ण रचनाएँ 'रामचरित मानस', 'पद्मावत' आदि अवधी में लिखी गई हैं, केशवदास और बिहारी की रचनाओं में बुंदेलखंडी का बाहुल्य है, विद्यापति के पद मैथिली में लिखे गये हैं। असल में ये विकास के भेद भर हैं। इन सभी स्थानीय बोलियों का पूर्व रूप एक ही है, जिसे कि विद्वानों ने पुरानी हिन्दी के नाम से पुकारा है। व्रज भाषा और अवधी में अधिक रचनाओं के पाये जाने का कारण इन भाषाओं की व्यापकता के अलावा शायद यह भी है कि मध्य युग में मुसलमानों के विनाशकारी हाथों से साहित्य व जीवन की रक्षा राजस्थान में अधिक हो सकी, व्रज का साहित्य

आसानी से अपेक्षा कृत सुरक्षित देश में चला गया। गंगा की घाटी का साहित्य जितना वहाँ पहुँच सका उतना तो उस रूप में सुरक्षित रह गया, जो नहीं पहुँच सका वह या तो सदैव के लिए नष्ट हो गया या लोगों की स्मृतियों में बहुत समय तक जीवित रह कर मुख से कान, मुख से कान चलता चला और अनुकूल समय आने पर उस-ने फिर लिपि वद्ध रूप में जन्म पाया; किन्तु इस नये जन्म मे उस के साथ पहले जन्म से अब तक के जन्म के बीच की दशाओं के आवरण भी आ मिले!

हिन्दी में हाथ की लिखी पोथियाँ बहुत पुरानी नहीं मिलती हैं, जो मिलती भी हैं उन सब में तिथियों का निर्देश नहीं रहता; तिथियों का निर्देश यदि रहता भी है तो अधिकांशतः पोथियों के रचना काल का न हो कर लिपिकाल का होता है। लिपि करने का व्यवसाय चलता था इसलिये लिपिकार पहिले से पोथी लिख कर तैयार रखते थे, मूल्य मिलने पर जहाँ माँग हुई वहाँ दे दी, और इस समय की ही तिथि उस में डाल देते थे। इसलिए उन में दिया गया प्रतिलिपि काल भी सदैव ही प्रतिलिपि करने के समय का समय नहीं होता है, प्रति-लिपि के बेचने का समय वह अक्सर हुआ करता है, प्रति-लिपिकार अधिक विद्वान नहीं हुआ करते थे। थोड़े मूल्य पर जिन का व्यवसाय चलता था वे 'जैसा पाया वैसा लिखा, भूल हो तो मेरा दोष नहीं' कहते लिखते अवश्य थे किन्तु शुद्धा-शुद्ध लिखने की विशेष चिन्ता नहीं करते थे, और ध्यान रखने पर भी उन की अपनी दुर्बलताएँ उन प्रतिलिपियों में चली आती थीं। परंपरा से मौखिक रूप से चली आती हुई रचनाएँ अपने युगों का रंग अवश्य लिए रहती हैं, किन्तु उन में मूल

धारा भी छिपी रहती है। परिश्रम और शोध से पहिले के युगों की बातों को मूल रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। कठिन होते हुए भी असंभव यह कार्य नहीं है, भाषा की दृष्टि से भी नहीं !

भाषा में परिवर्तन यद्यपि बराबर होते रहते हैं लेकिन उस का परंपरागत एक ऐसा रूप भी होता है जिस में अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता होती है, जिस में सदियों के बाद अन्तर पहिचाना जाता है भाषा के रूपों में परिवर्तन, जीवन की बाह्य परिस्थितियों के कारण होते हैं और व्यापक बोलचाल तथा साहित्यिक रूप में परिस्थितियों के अनुकूल कोई भी बोली अपनाई जा सकती है। कोई भी बोली, साहित्य के लिए जब अपनाई जाती है तब उस में साहित्योपयोगी शक्तियाँ मँजी हुई साहित्यिक भाषाओं जैसी नहीं हुआ करतीं। उस आरंभिक अवस्था में उस के रूप अस्थिर हो सकते हैं और वे रूप, जीवन की किसी विशेष धारा में विशेष अपनाये जा सकते हैं, किसी धारा को प्रकट करने में वे अधिक सफल हो सकते हैं किसी को कम। जीवन में भाषा पहिले बदलती है, साहित्य में बाद को, इसलिए साहित्यिक भाषा, जीवन की भाषा से सदैव पिछड़ जाती है, जीवन के मेल में आ जाने के लिए आकुल साहित्यिक भाषा अपने बंधनों को तोड़ कर चारों ओर लहराने लगती है।

२—चन्द्रकुँवर बर्त्वाल

चन्द्रकुँवर मन्दाकिनी, हिम ज्योत्स्ना की धार।
विकल वेदना बाँसुरी, बहती शान्ति अपार।

नीले शैलों की शालीनता दर्शनीय होती है। अपने जीवन के अठ्ठाईस वर्षों में चन्द्रकुँवर (जन्म वृ २० अगस्त १९१९ ई०, मृ० रवि १४ सितम्बर १९४७ ई०) ने कुहरे से धुँधले पड़े और चाँदनी से धुले हुए उस सौन्दर्य से कहाँ तक तादात्म्य स्थापित कर पाया इस का पूरा पता स्वयं उन्हें नहीं हुआ। आनंद समेटने की अपेक्षा उसे वितरित करने की प्रवृति उन मे विशेष काम करती रही। अमूर्त सौन्दर्य जो निविकार रूप से हिमालय के असीम प्रसार में विखरा पड़ा है उन के लिए आश्चर्य, भ्रान्ति अथवा हास का उद्दीपक भर नहीं रहा, वह उन की श्रद्धा और अर्चना का भी केन्द्र बना। पर्वतराज की स्थिर शान्त मूर्ति को कई पहलुओं से देख कर अपनी हिमगिरि की माधुरी के अन्त में उन्हों ने केवल इतना कह कर सन्तोष कर लिया—"न जाने कितने प्रिय जीवन, किए मैंने तुम को अर्पण ! माधुरी मेरे हिमगिरि की।"

चन्द्रकुँवर ने सचमुच ही कई प्रिय जीवन अपनी हिमगिरि की माधुरी को अर्पित किए। यदि कहा जाय कि हिमालय के बिना उन की प्रकृति निष्प्राण है तो अत्युक्ति न होगी। प्रायः सभी श्रेष्ठ प्रकृति संबंधिनी उन की कविताओं में हिमालय, उस के देवदारु और चीड़ के बन या उन की छायाएँ विद्यमान हैं। दूसरी कविताओं में भी हिमालय जहाँ अपने पूरे रंग के

साथ नहीं है वातावरण में एक विशेष प्रकार की विचित्रता है जो हिमप्रान्त में रहने के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार का पर्वतीयपन हमें सुमित्रानंदन पंत की 'भादों की झरन' में भी देखने को मिलता है किन्तु पन्त, दृश्य चित्रण के द्वारा सामूहिक एकता को ही लक्ष्य मान कर चलते हैं; चन्द्र कुँवर, दृश्य की बारीकियों के साथ भावना का कुछ ऐसा अच्छा समन्वय करते हैं कि चित्र यथार्थ होते हुए भी अपने रंगों और अपने दृश्य की सुन्दरता से भी अधिक मनोरम अपनी भावमयी आत्मा के कारण हो जाता है। जहाँ चित्रण की बारीकियों को प्रधानता नहीं भी दी गई है वहाँ भी प्रकृति के साथ भावना का सुन्दर समन्वय सौन्दर्य के कुछ एक उपकरणों के प्रयोग से वे कर पाये हैं। अंग्रेजी कवि टेनीसन के लिए कही गई उक्ति कि वह साधारण उपकरणों के प्रयोग से भी अपनी कविता में असाधारण प्रभाव उत्पन्न कर लेता था—"He could give large effects with meagre facts" चन्द्रकुँवर पर भी ठीक बैठती है। हिमालय का सौन्दर्य, उस की उज्ज्वलता में ही नहीं, उस के प्रसार और उस की अचल स्थिति में भी है, इन दो एक उपकरणों से कवि ने अपने छोटे किन्तु विराट् से भी विराट् उस पुराण मुनि तपस्वी हिमालय का स्तवन किया है जो नभ में ज्योति लिखित ओंकार भी भाँति फैला हुआ है, जिस की फैली हुई रजत जटा पर पूरब की ओर दिन कर चमक रहा है और पश्चिम की ओर रजनी छिप कर बैठी है, जिस के कटि पर घन लहराते हैं, मस्तक पर चूर चूर तारे हैं और जिस के पदों पर घोर घोष कर दीप्त सुरधुनि गिरती है।

चन्द्र कुँवर शत प्रतिशत हिमवन्त के कवि है। उन की कविताओं का वातारण पूर्णतः हिमवन्तीय है। काफलपाक्कू

रैमासी, वनदेवी, वनदेवता, जीतू आदि के दृश्यों को आप यदि देखना चाहें तो आप को हिमालय के उन अंतः प्रदेशों तक पैदल यात्रा करनी पड़ेगी जहाँ चीड़ के पेड़ को घेर कर, सरिता के तट में कदली के लम्बे पत्ते ला कर लोग, डगमगाते पैरों से नृत्य करते मग्न रहा करते हैं।

चन्द्र कुँवर की वसन्त की दोपहरी हमें पं० रामचन्द्र शुक्ल के और सेनापति के ज्येष्ठ मध्यान्ह वर्णन की, और जीतू, कालिदास की रचनाओं की याद दिलाती हैं तो घन घोर शाल वृक्षों में आच्छादित, सर्प संकुल, व्याघ्राकीर्ण और आवश्यकता स अधिक गरम 'भावर का रास्ता' (देखिए पयस्विनी पृष्ठ १४३) जो कि हिमालय की तराई के भावर भाग में मिलेगा, भवभूति के 'दधति कुहर भाजाम् अत्र भल्लूक यूना' की याद दिला देता है। फिटज स्ट्रौस (fitz Stoauss) के शिग्गी-शिग्गी (Schiggi Schiggi) को पढ़ने का मौका आप को मिले तो उस सुन्दर पुस्तक के पामा-रासा (Pama Rassa) की 'भावर का रास्ता' से तुलना करने का प्रयत्न अवश्य कीजिये, दोनों चित्रों में साम्य बहुत अधिक है। अन्तर केवल इतना ही है कि फिटज स्ट्रौस को पामा रासा को ऐसे स्थलों में मार्ग बताना पड़ता है जहाँ कि केकड़े, गिरगिट तक उसे देख आश्चर्य प्रकट करते है—"भाई! मुसाफिर तो हम भी पुराने हैं पर ऐसा अजीब जानवर तो हम ने भी कभी नहीं देखा!" और हमारे कवि एक आमद-रफ्त रास्ते पर डर-डर कर चल रहे हैं।

चन्द्र कुँवर की कविताएँ भावना प्रधान हैं। इस दिशा में प्रसाद के मेल में वे पड़ते हैं! परन्तु चन्द्र कुँवर की अभिव्यक्ति का स्वरूप हिन्दी के किसी भी कवि की व्यंजना शैली से कम ही मेल खाता है।

चन्द्र कुँवर ने छोटे गीत भी पर्याप्त लिखे हैं जो अपनी संगीत-गरिमा, भाव-तीव्रता और शैली के निरालेपन के कारण बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। 'पयस्विनी,' 'गीत माधवी,' 'जीतू' आदि में इस प्रकार के गीत हैं। संस्कृत के तथा अंग्रेजो के गीति काव्य गंधर्वों की बारीकियाँ और खूबियाँ चन्द्र कुँवर में एक साथ मिल जाती हैं।

हिमवन्त से चन्द्र कुँवर को इतनी ममता है कि अपने दृश्यों सहित वहाँ की प्रकृति, विदेश में ही नहीं स्वदेश में भी बार बार उन के स्वप्नों में आती रही है। स्वप्न में माँ तथा 'कल सपनों में आए मेरे वृक्ष मनोहर' आदि कविताएँ इस दिशा का संकेत देती है।

स्नेहमयी प्रकृति को चन्द्र कुँवर ने निष्प्राण कभी अनुभव किया हो, •ऐसा हमें याद नहीं। माँ के वात्सल्य शीतल क्रोड़ में लेटे हुए कवि ने सदा ही उस के समीपस्थ हृदय के स्पंदन को साफ-साफ सुना है। उस के प्रकृति वर्णन में शान्ति की अगति की भावना वहीं है जहाँ कि वातावरण की प्रसन्नता, गति और कर्म दोनों को आच्छादित कर एक मूक-सी झींगुर की झनकार मात्र रह जाती है। 'वसन्त की दोपहरी', 'दिनान्त,' 'ढला गया यह दिन भी' 'मुझे इसी में है सन्तोष' इस प्रकार की कविताएँ हैं। उन की अधिकांश कविताओं में रस, गंध तथा रंगों का प्राधान्य है। उन का प्रभात (देखिये विराट् हृदय पृ० १८४-१६६) प्रकाश की एक ऐसी लहर मात्र नहीं है जो कि समस्त विश्व को सोने में बोर देती है', उन का प्रभात, समय मात्र नहीं है, जिस से इतना सारा परिवर्तन आप से आप आ जाता है, वह एक दूरागत प्रेमी भी है, एक ग्रामीण ग्वाला भी है, एक कृषक भी है, प्रभात के आगमन

के साथ ही समस्त संसार अँगड़ाई ले कर उठ खड़ा होता है और गति जो कि जीवन का एक गीत प्रतीक है, अणु-अणु में व्याप्त हो जाती है। भाषा भी गति की द्योतक किस प्रकार इस कवि के हाथों में बन गई है यह देखना हो तो 'ज्योति नागिनी' (मेघ कुंज मे खेल रही) कविता पर विचार कीजिए। 'अभी यदि आश कुछ होती' से शुरू होने वाला गीत अपनी भाव गरिमा व अभिव्यक्ति की खूबी के कारण सुन्दर बन पड़ा है। कवि ने सोने का पत्ता नहीं बनना चाहा था वह एक साधारण पत्ता होता पर ऐसा होता जो कि हवा में डाल पर रह कर हिल डोल सकता है। इसी प्रकार 'थक तुम्हारे चरण जावें' से आरम्भ होने वाला गीत है। कवि और कुछ नहीं चाहता—'सिर्फ इतना कर दो कि जब कभी जीवन के कठोर मार्ग पर चलते चलते तुम थकने लगो तो मुझे इतना सुयश देना कि मैं तुम्हें हाथ पर रख कर तुम्हारी समस्त यातनाओं को अपने सिर पर लाद कर तुम्हें दूर तक पहुँचा सकूं। इस ऊबड़ खावड़ रास्ते पर तुम हारे चरण थक जाना स्वाभाविक ही है। उस समय यदि अनजान समझ कर तुम ने मुझे इतना भी अधिकार न दिया तो मेरा जीवन सार्थक हो जायगा।" चन्द्र कुँवर के अधिकांश गीतों में भाव का ऐसा ही सौष्ठव और गांभीर्य है! 'तुम जीवनतम किरण-प्राण धन,' तथा 'मेरी आँखों को देखो तो' इत्यादि गीतों (पयस्विनी देखिए) में संगीत का भावों के साथ बहुत ही सुन्दर समन्वय हुआ है। कवि के गीतों में 'आत्म-क्रंदन' विशिष्ठ स्थान रखता है। श्लीलता के प्रेमी कई लोग उस तथा उसी प्रकार के अन्य कई गीतों को पढ़ कर नाक भौं सिकोड़ेगें और कहेंगे यह तो हृदय का व्यभिचार है किन्तु हृदय जब तक हृदय रहेगा तब तक ये लोग भी इन

कविताओं के सम्पादन को अपने हृदयों में एकान्त में सुनेंगे ही।

चन्द्र कुँवर की जिस सहज प्रतिभा ने उन के छोटे गीतों की भावना को इतना पूर्ण कर दिया है उसी ने जीतू, रोहिणी वीजारांद, गीत माधवी, नंदिनी जैसी लम्बी गीतियों की धारा भी बहाई है। यम और मृत्यु विजय (देखिए विराट् ज्योति तथा पयस्विनी) में भाव चित्रण और वातावरण का दिव्य समन्वय हुआ है। विनीत कारुणिक की डरी हुई उद्दीप्त कल्पना का एक सुन्दर उदाहरण यम है। यम का स्वरूप शास्त्रीय है। उन की वेष भूषा व मुख मुद्रा कठोर है—

आँखों में धूम्र केतु, पाश कठिन करों में, महिष पर चढ़े हुए,
हृदय में कठिन शिला, मुख में अँगारे, अलकें फुफकार रहे,

ऐसी शक्ति का विरोध करना तो निरी मूर्खता है अस्तु—

छोड़ कम्प बालक मृग सिंह के नखों में डाल शीश अपना,
भस्म हो नगण्य लोक प्रलंयकर रुद्र की पूरी कर वासना!

यम देव अतिथि बन कर आये हैं, विनय और दैन्य से उन के स्वागत की रागिनी वह गाता है—

एक फूल चुनने को मुरझा मिट्टी का स्वयं आप आए!
एक पत्र करने को छेदन-संसार से, वज्र शिखा लाए,
करने को उदर लीन एक क्षुद्र निर्झर महार्णव स्वयं चले,
करता जो रहा सदा आप की प्रतीक्षा उसे जीतने निकले,
ले कर घन घोर चंड प्रलय जलद जाल सी अंतहीन वाहिनी
गाता मैं आर्द्रकंठ स्वागत की रागिनी!

यम के हाथों अनेकों दग्ध हृदयों को शान्ति प्राप्त होती है। यम देव तो 'जीवन के अर्थहीन स्वप्नों को रात के

उज्ज्वल तन प्रात हैं, 'द्विधाद्वंद सुख दुख की लहरों पर डोलते निर्मल जल जात' हैं। उन के शाश्वत लोक में कोई भी भय और शोक में नहीं। इसी प्रकार की कविता मृत्यु विजय है जिस का निखरा हुआ रूप 'पृथ्वी रुदन' है।

काव्य के सम्पूर्ण ऐसे उपादानों में जो कि सृष्टि के अमूर्त सौन्दर्य को पुंजी भूत कर स्पष्ट करते हैं, अभिव्यंजना का सर्व श्रेष्ठ स्थान है। अपनी गम्भीर व व्यंग्यात्मक दोनों ही प्रकार की कविताओं में चन्द्र कुँवर के कहने का ढंग कुछ ऐसा है कि उक्तियाँ, हृदय में घर कर जाती हैं। भावों की नवीनता के कारण भी व्यंजना में प्रभावोत्पादकता बढ़ी है— 'मैं मर गया, चलो गंगा तट पर मुझे जला आएँ,' डूब रहा है शशि यह बादल-टपक रहा है, मरु देशों में प्यासा निर्भर भटक रहा है, मुझे डूबने दो यमुना में प्रिय नयनों की, मुझे डूबने दो गंगा में प्रिय बचनों की' आदि इस के उदाहरण हैं। हो सकता है कहीं दूसरों के भाव भी चन्द्र कुँवर में आ गये हों परन्तु युग की परिस्थितियों के साम्य में इस का समाधान यदि मिल जाता है, स्वयं भी कवि ने अपनी सफाई बड़ी खूबी के साथ दे दी है।

मिलें मिलें मुझ में सरिताएँ पर लहरें हों अपनी।
देश-देश की हों सरिताएँ, पर लहरें हों अपनी।

३—हिमालय प्रेमी कालिदास

कालिदास के अधिकांश ग्रंथों में विन्ध्याचल का वर्णन मिलता है। मालविकाग्निमित्र नामक नाटक की दृश्य स्थापना विन्ध्याचल पर्वत के आस पास विदिशा तथा विदर्भ में ही कालिदास ने की है। मेघदूत का यक्ष भी विन्ध्या पर्वत में ही अपने वियोग के दिन काटता है और रामचन्द्र तथा सीता ने भी इन्हीं पर्वतों को अपनी लीलाओं से पवित्र किया है। परन्तु पर्वतों में सर्व श्रेष्ठ हिमालय को कालिदास ने विशेष तन्मयता से चित्रित किया है।

१ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मान दंडः।

२ यं सर्व शैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्।

३ अनन्तरत्न प्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्य विलोपि जातम्।
एकोहि दोषों गुण संनिपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः।

४ यश्चापसरो विभ्रममंडनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागाम्, अकाल संध्यामिव धातुमत्ताम्।

५ आमेखलं संचरतां घनानां छाया मधः सानुगातां निसेव्य,
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृंगाणि यस्या तपवन्ति सिद्धाः।

६ पदं तुषारस्रुति धौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम्।
विदन्ति माग नख रंध्र मुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः।

७ न्यस्ताक्षरा धातु रसेन यत्र भूर्जत्वचः कुंजर विन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधर सुन्दरीणाम्, अनंग लेख क्रिययोपयोगम्।

८ यः पूरयन्कीचक रन्धभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन,
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्व मिवोपगन्तुम्।

९ कपोल कंडूम् करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरल द्रुमाणाम्।
यत्रस्रुत क्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धैः सुरभी करोति।

१० वनेचराणां वनिता सखानां दरीगृहोत्संगनिषक्त भासः।
भवन्ति यत्रोषधयो रजन्याम् अतैलपूराः सुरतप्रदीपाः।

११ उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्मार्गे शिलीभूत हिमेऽपि यत्र।
न दुर्वह श्रोणि पयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः।

१२ दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्व मुच्चैः शिरसां सतीव।

१३ लांगूलविक्षेप विसर्पि शोभैरितस्ततश्चान्द्र मरीचि गौरैः।
यस्यार्थ युक्तं गिरिराज शब्दं कुर्वन्ति बाल व्यजनैश्चमर्यः।

१४ यत्रांशुकाक्षेप विलज्जितानां यदृच्छया किं पुरुषांगनानाम्।
दरीगृहद्वार विलम्बिविम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति।

१५ भागीरथी निर्झर सीकराणां वोढ़ा मुहुः कंपित देवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्न शिखंडि वर्हः।

१६ सप्तर्षि हस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः।
पद्मानि यस्याग्र सरोरुहाणि प्रवोधयत्यूर्ध्व मुखैर्मयूखैः।

१ उत्तर दिशा में देवताओं की आत्मा के समान दिव्य हिमालय नामक पर्वत है जो कि नगाधिराज (शैलाधिराज) कहलाता है यह पर्वत पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी) से पश्चिम सिन्धु (अरब की खाड़ी) तक फैला हुआ है। पृथ्वी पर वह इस प्रकार से स्थित है विधाता ने मानों इसे पृथ्वी का मान दण्ड बनाया हो (हिमालय को पृथ्वी का मान दंड कहना पृथ्वी का अपमान करना है,) २ गो रूप पृथ्वी को दुहने का उपक्रम

राजा पृथु ने किया। दुहने में चतुर मेरु को ग्वाला बनाया, सब पर्वतों में हिमालय ही गोवत्स बनने योग्य ठहरा चमकते रत्नों (रत्न-हीरा मणि इत्यादि तथा विद्वान रिषि मुनि आदि) और दीप्त ओषधियों (जड़ी बूटियों) (आदि, अमृत पयस्विनियों के दूध) को दुहते समय इस प्रकार गोवत्स रूप (गंगा गोमुख से निकलती है) में हिमालय आज भी उसी तरह खड़ा है। ३ अनंत रत्नों और ओषधियों को उत्पन्न करने वाले हिमालय में शीतता है किन्तु इसी से उस की सुन्दरता में कमी नहीं आ जाती। मृगांक (कलंक) तो चन्द्रमा में भी है पर असंख्य सुन्दर किरणों में वह (दब जाता है) नगण्य है। ४ हिम शिखरों की (धातु राग गेरू मय) रागारुण विभा जो कि बादलों के लूमों (ऊन तथा रेशमी रुई के गुच्छों जैसे ढेरों) से विभक्त सूर्य किरणों के पड़ने से इन शृंगों पर तथा मेघ पंक्तियों में उत्पन्न होती है, समय से पूर्व ही संध्या की शोभा को दिखाती है जिस से कि भ्रम में पड़ जाने से अप्सराएँ, विभ्रम (हड़-बड़ी) में अपने प्रसाधन (इत्यादि) में लग जाती हैं, (रात्रि के संगीत-नृत्य इत्यादि में जाने की तैयारियाँ करने लगती हैं।) ५ हिमालय की मेखला (कटि-तट, कमर, मध्य भागी सीमा) पर संचरण करते घनों की छाया में (अटूट खर तर असि धाराओं जैसी) वृष्टि से उद्विग्न हो जाने पर सिद्ध मंडली हिम शृंगों पर फैली धूप तापने जाती है। ६ हिमालय के किरात हाथी मार कर गये हुए शेर के खून-भरे पंजों के निशान, वर्फ पर न रहने पर भी गज मुक्ताओं को देख-देख कर केशरी के जाने के मार्ग का पता (सहज ही में बड़ी आसानी से) लगा लेते हैं। ७ हिमालय में विद्याधर सुन्दरियाँ, भोजपत्र पर गेरू (धातु) के रस (इंगूर सिन्दूर) से अपने प्रेमियों को प्रेम-पत्र लिखती हैं। भोज पत्र पर वे (लाल लाल गोल) अक्षर ऐसे सुन्दर

लगते हैं मानों चित्रित कुंजर (हाथी, मदन) के इंगुदी (माथे के) विन्दु हों। ८ हिमालय में घाटियों से वेग से उठी हुई पवन बाँसों में भरती है तो बाँसुरी-सी बजने लगती है। यह बाँसुरी सुरीली तान छेड़ने वाले किन्नरों का साथ समय पर देती है। ९ हिमालय में देवदारु के तनों से हाथी अपनी कपोलों (गंड स्थलों) की कंडू (खुजली) खुजलाते हैं, रगड़ से निकले देवदारु दूध की सुगंधि घाटियों (डाँडो काँठियों) में गमक उठती है। १० हिमालय में गुहाओं के भीतर रात में बनचर अपनी प्रियतमाओं से रमण करते हैं, अंधकार में चमकनेवाली बूटियाँ अतेल सुरत-दीपकों का काम उन के लिए करती हैं। ११ हिमालय में शिलाओं पर भी अश्वमुखी किन्नरियाँ नितम्बों और स्तनों के भार से दबी होने से मंद मंथर गति से चलती हैं, जिस से उन के पाँवों की उँगलियाँ, एड़ियाँ (और पिंडुलियाँ) (ठंड से जकड़) ऐंठने दुखने लगती हैं। १२ हिमालय की गुफाओं में दिवा-भीत तुच्छ तिमिर भी आश्रय पाता है। महान् आत्माओं के हृदय में तुच्छ शरणागतों के लिए भी सौहार्दपूर्ण स्थान होता ही है। १३ हिमालय की गिरिराज उपाधि को चँवर गायें, चाँदनी जैसी अपनी पूँछिया चाँव-रियों को उस पर डुला कर (उस का राज वैभव दिखला) सार्थक करती हैं; १४ हिमालय की घाटियों की गुफाओं में किन्नर अपनी प्रियतमाओं को विवस्त्र जिस समय करते हैं उस समय गुफा द्वारों पर संयोगवश लटकते बादल आवरण का काम दे उन लजीलियों की लाज की रक्षा प्रकृत रूप से करते हैं। १५ हिमालय में मोर पंख धारण करने वाले शिकारी किरात थक कर देवदार छाया में विश्राम करने बैठते हैं तो भागीरथी सीकरों से शीतल तथा देवदारु को कंपित कर आता मंद पवन उन के मोर पंखों को फरफरा उन्हें श्रम

रहित शान्ति देता है, १६ हिमालय के ऊँचे शिखरों के सरोवरों में कमल खिलते हैं, सप्तर्षि उन्हें चुन ले जाते हैं। वे इतने ऊँचे पर खिलते हैं कि लगता है रात में सप्तर्षि मंडल उन पर झुका उन्हें चुन रहा है, और दिन में सूर्य उन से नीचे उदित होने से अपनी किरणों को ऊर्ध्वमुखी कर उन्हें विकसित कर रहा है।

इस के अलावा, हिमालय में असंख्य झरने हैं जिस पर सूर्य किरणों के पड़ने से विपुल इन्द्र धनुष बन जाते है, सूर्यास्त होने पर ये धनुष भी गायब हो जाते हैं (कु ८-३१)। हिमालय में देवदार के घने बन हैं। ये देवदार पवन चलने से लड़ जाते हैं जिस से बन में 'बणाग' लग जाती है। इस बणाग में चाँवरियाँ झुलसती है, मेघ खुल कर बरस कर उन की दाह दूर करता है (मेघ ५-५५) गरजते चमकते मेघों को को छूने के लिये कृष्णासार मृग आकाश में छलांग भरते हैं। कालिदास ने हिमालय को निकट से देखा और उसे यथेष्ठ प्यार किया। वह उन के इष्टदेव भगवान शंकर का निवास स्थान था इसलिए 'त्र्यम्बक के राशी भूत अट्टहास' का वर्णन कालिदास ने श्रद्धा भक्ति के साथ किया है।

मानस-हंसिनी

'मानस हंसिनी', भोलादत्त चन्दोल अंबरीश (जन्म २६ अगस्त १६०० ई० मृत्यु २४ अगस्त १६३७ ई०) की कृति है। मानस हंसिनी की कविताओं में जन-कोलाहल-शून्य एकांत प्रिय शान्ति, हिम प्रान्तों की आश्रमवासिनी सरलता के साथ देव-

दारु के वनों और चाँदनी के बीच हैं। एकान्त में राधा और कृष्ण की भावनाओं के दर्शन हमें होते हैं। फूलों की शोभा, वनों की श्री, लता-कुंजों के बीच बहने वाली सुरभित पवन, आनंददायिनी प्रकृति के कोमल स्पंदन, प्राणों को मीठी मुरली के स्वरों की भाँति छू जाते हैं। गोपियों को इस लीला-स्थली में आने की आवश्यकता न थी, वे आईं भी नहीं। उन का नाम स्मृति रूप में भी प्रकारान्तर से ही आता है। रास की स्मृति, कृष्ण की गोपियों के प्रति अनुराग की याद, राधा को अधीर बना देती हैं, किन्तु हिमप्रान्तों में एक तपस्विनी का सा जीवन सती की तरह वह बिताती है। सयंम उस के जीवन का एक अंग है। कृष्ण भी शिव की भाँति संयमी हैं। एकान्त रभस में चुम्बन-आलिंगन की भावनाओं की चेतनता चाहे स्थान-स्थान पर उभर आई हो किन्तु संयम ने हृदय का साथ कहीं नहीं छोड़ा है। ये 'वय त्रयोदशी-प्रदोष-व्रती दंपति' थे, और व्रत खोलने के लिए किसी भी हृदयवान की भाँति कोमल भावनाओं के हृदय सुमनों के 'मनोज्ञहार' पिराते थे।

कृष्ण सोचते हैं—कितनी सुन्दर चाँदनी है! आज सरस सुषमा को लतिकावलि की कलियों से खेलने में आनंद आता है, इन कलियों को जगाने अलि आवेंगे, अपनी गुंजारों से वे इन के प्राणों को रस से भर देंगे। कलियाँ धीरे-धीरे खिल कर विकच कुसुमों में परिणत हो जायेंगी। वसंत चारों ओर बिखरा होगा, अदृश्य अज्ञात सत्ताएँ तुम्हारा स्वागत करेंगी। सब प्रकार से प्रसन्न देख 'उद्विग्न' मन भी तुम्हारी अर्चना करेगा। मानस-हंसिनी के हृदय-रस के मोती एक बार चुग कर तुम स्ववश-विहारिणी बनना।

खिली चाँदनी में निर्जन कुंजों में किशोरी राधा जिस के

नयनों में हृदय-वारिधि लहरा रहा था, दिखाई देती है। कृष्ण उसे उपहार देने के लिये ही वहाँ, फूलों की बालियाँ बीन रहे थे। राधिका एक टक हो उन बालियों की ओर देख रही थी, मानो पूछ रही हो—"इन अनमोल बालियों का क्या मोल होगा?" राधा के हृदय की भावनाओं तथा मन की ल्पनाओं की ध्वनि, मूक प्रश्न बन कर पाठक को कल्पना की उर्मिल लहरों में तिराने लगता है। राधा अपने ही मन से कहती है—"देख लो मेरे प्रिय, सरोवर के तीर पर खिली मालती के कुंज में बैठे मेरे स्वप्नों की मालायें बीनते हैं या नहीं, कल्पना के कमलों के -वंदी मधुप स्वप्नों की चैतन्यता को चुन कर उपहार हार को पिरो रहे हैं या नहीं?" राधा का हृदय कहता है, उस के प्रिय एकांत में बैठे वही कर रहे हैं, उस के ध्यान में उसी के सरस स्वप्न देख रहे हैं; और बात सत्य भी थी। दूर से कृष्ण को यह प्रेम तन्मयता देख राधा सोचने लगती है। व्रत पूरा हो चुका है। आज त्रयोदशी की वर चन्द्रिका छहर रही है। ज्योत्स्ना यामिनी में शरद की अपार नीलिमा निमज्जित है, आज के लिए हृदयेश चूनरी भर फूल चुनेंगे, मैं हार गूँथ कर उन्हें पहिनाऊँगी। आज वे मधुप बन मधुपान करेंगे। नंदागिनी (नदी) लहरा रही है। शीतल पवन गात को शिथिल कर देता है। मैं प्रेम की नौका पर आज संतरण करूँगी। इस शांतिशाली रात को हृदयेश नाविक बनेंगे, वे मधुप बनेंगे, उन्हें मधुपान करना है। उन्हों ने कहीं चूम लिया तो उन के ध्यान को अटल करने के लिये रूठ जाऊँगी, और (फिर अन्त में हार मान कर, अपनी) हार (भावनाओं की प्रेम माला) में सती की धरोहर को बीन दूंगी, हृदयेश को उसे पहिना दूँगी, आज वे मधुप बनेंगे, उन्हें मधु पान करना है।

नंदागिनी की आकाश को छूने वाली चोटी जल की नीलिमा में (प्रतिबिम्बित हो कर) अत्यन्त सुन्दर लग रही है, इस चाँदनी भरी रात में सुरीली मुरली वे बजायेंगे, मैं उन मधुर स्वरों को एक टक हो सुनने के लिए आज साँस लेना तक त्याग दूँगी। वे आज मधुप बनेंगे, उन्हें मधु पान करना है।

कृष्ण के समीप राधा अब आ जाती है—कहती है—"प्रियतम, आज ग्रीष्म की सुषमा में विहार क्यों न किया जाय। विपनों में शीतल समीर डोल रहा है। नंदागिनी में नीलिमा बह रही है, कमनीय कुसुमाकर की कांति खिली हुई है। आज देवदारु की प्यारी पंक्तियों में इन हिमशिखरों पर तारों-भरी चाँदनी में बाँसुरी की धुनि क्या गूँज न उठेगी?"

कृष्ण उत्तर देते हैं—"सरले। सरोवर पर चाँदनी फैली है। मनोज्ञ मीन जोड़ियाँ (आँखों की तरह) केलि करती हैं, आकाश की नीलिमा को समीर हिलोरता है, मृदुल नयनों में मैंन कांति बरसाती है। आज तरणी पर तैरेंगे, छटा निहारेंगे, कांते! आज काव्य की क्यारियाँ लगायेंगे, मैं मृदु मुस्कानों के मनोहर उपवन में केशर क्यारियाँ सजूँगा।"

राधा भी प्रसन्न हो कहने लगती है—"हृदयनाथ निर्झर कूजित कुंज कुटीर में कल्पना कलियों की सेज सजूँगी। कमल के कोष में बंद मधुप की उषा के आने पर जागी हुई गूँज सी काव्यकांतार में उठेगी। मैं स्नेहोपवन की मालती बनूँगी; सरस उपमा की डालियाँ लगाऊँगी, अलंकार कुसुमों की माला गूँथूँगी। कलाधर की नीरवता में चुंबनों दीक्षा जप लूँगी मधुपी सुत कलियों के सम्मुख मधुकोष को उपहार करेगी।"

हृदय की भावनाओं को इस सीमा तक पहुँचा कर कवि

मौन व्यंजना का आश्रय लेता है। संयम से आगे बढ़ता है। राधा को भी आगे बढ़ाता है। वह क्लांत भाव से कहती है— उपहार होना था हृदय हो गया है, आलिंगनों की बेड़ियों में बँध कर चुंबनों की बाढ़ में प्रियतम को बढ़ा कर स्वयं बढ़ गई और स्वीयता की सती की धरोहर को भी उसी बाढ़ को अर्पित कर दिया है। अब मेरा अपना रह क्या गया है! मुझे इस सब का तनिक भी दुख न होता, यदि वे मेरे ही बने रहते, किन्तु दुःख तो इस बात का है कि वह मधुप इस सुमन का रस पी कर गोपियों के झाड़ पर मँडराने लगा है। जिस को राधा ने अपना सर्वस्व अर्पण किया वही अब पराया हो रहा है। वासना के वाणों से विधे हुए उस भ्रमर ने मेरे हृदय को क्यों ठुकरा दिया? मेरा हाथ अग्नि को साक्षी कर पवित्र विवाह तीर्थ में धर्मधुरीण पिता ने, स्नेहमयी माता ने श्याम को नहीं अर्पित किया था? और श्याम ने भी मुझे नहीं अपनाया था क्या? एक बार अपना कर अब क्यों मधु पीने पर त्याग दिया! यदि ऐसा ही उन्हें करना था, गोपियों को ही गले लगाना था तो राधा को अपनाने की क्या आवश्यकता थी? इस से अच्छा तो यही था कि वे मुझे कुमारी कली ही रहने देते। मुझे इस का भी दुःख नहीं कि गोपियों से प्रेम वे करते हैं। मैं उन का हाथ नहीं थाम सकती हूं, किंतु वे मेरी मनोरथ-मेंहदी से कुमारियों के मन को क्यों रँग रहे हैं, जो गोपनीय रस केवल मेरी वस्तु थी उसे हम-जोलियों को बाँट कर उन से मुझे क्यों लुटा रहे हैं? स्नेही हंस तो खारी आँसू पीवें और झाड़ पर अमृत की वर्षा हो! ऐसी अवस्था में किस तरह हृदय को आश्वासन दिया जा सकता है?

मानस-हंसिनी की प्राण यह कविता है। राधा का अस-

मर्थ क्षोभ निश्वास छोड़ता है—'रहने देते कुमारी कली बालिका जो गले लगाना था अलि गोपियों को ?' और अधीर हृदय का बाँध क्षुब्ध होकर फूट पड़ता है—'वे पतित पावन हैं, पतित मेरा हृदय क्यों ठुकरा दिया लली मेरी भेंट को ?'

राधा का गंभीर शान्त प्रेम इस दुःख की बाढ़ में बह नहीं जाता वरन् वह और भी अधिक उज्ज्वल होता जाता है उस की दिव्य मौन एकांत चाँदनी एक दिन जब कि कृष्ण मथुरा जाते हैं कुंज लताओं में छिटकी नज़र आती है।

"दुपहरी थी, गोकुल के सब नर-नारी सोए पड़े थे, जमुना किनारे की बालुका गरम थी, लू की ललकारों से लतिकाएँ व्याकुल थीं। राधा कुंज-कुटीर के द्वार पर अकेली खड़ी थी। उस ने सुना था, नंद-सुवन को कंस ने मथुरा बुलाया है, वे आज जा रहे हैं। कुंजों में भ्रमर गूँज रहे थे। कदंब तले बकुलों की रटन लगी थी। विपिन की बटिया निर्जन पड़ी थी। श्याम उसी कुटीर की बाट मथुरा गये। वह न गई हो, न रही ही, जहाँ की तहाँ, बनालय में वन वेलियों के बीच अकेली, आसमानी नीलिमा में 'प्रिय' नाम के दोनों आखर लिखती रह गई।

एकांत क्षणों में प्रिय की पूर्व स्मृतियों से अब उस की कल्पनाएँ खिलती हैं। उसे रह रह कर एक एक याद आती है। एक पावस की रजनी में नीलाकाश घन-घटाओं में छिपा था। चन्द्र-तारा लुप्त थे। गिरि शिखरों पर मेघ मालाएँ गरज-गरज कर बरसती थी। वनों से ढकी हुई गगन चुम्बी गिरिराज की शृंगावलि पावस जलदावलि में छिपी थी, नयन-तारा प्यारा कृष्ण स्नेह की ज्योत्स्ना मे व्रीड़ानत मत्त सुवासित नलिनी सदृश नेत्रों को चंचरीक की भाँति चूमता था। मन मानस पर कोयल के स्वरों की निन्दा करा देने वाली बीणा की

झनकारें खेलती थी। घुमड़-घुमड़ कर बरसने वाली घटाएँ बरस रहीं थीं, कामिनी-कांत के हृदय विकस-विकस कर जुड़ते थे।

हिमशिखरों पर चाँदनी छिटक रही है, पर कौन मानस के द्वार खोल खोल कर स्नेह सिन्धु को भरेगा? कौन शृंगा-च्छादित मानस तल का विहारी बनेगा? मानवती बन, रूठ रूठ कर किस पर दयाँजुलियाँ बरसाऊं? किस से हार हार कर विजयोल्लास का अनुभव करूं? रस के कोषों को छिपा लेती थी, आज मेरे याचक हृदयेश सम्मुख नहीं हैं, तो मन देने को उद्विग्न है, आकुल है।

जिन निकुंजों में बचपन के खेल खेल थे, जहाँ सुहाग का प्रथम चित्रण किया था प्रिय के प्रवास में उन्हीं का अर्चन प्रीतम प्रतिमा की भाँति करूंगी। यह मेरा प्यारा निराला उपवन है, निकुंज है, यह सलोनी मालती है, जिस की ओर नत नयनों से देख कर मैं ने मौन रह कर 'उपहार' कहा था, प्रियतम ने चुंबन उपहार माँगा था। उस रजनी को कुमुदिनी शौंडिल्य माला से घिरी थी, उन्मना मैं मन ही मन प्रसन्न होती थी। व्रीड़ा संकोच के झकोरों से हृदय झंकृत हो रहा था सुहाग के प्रभात सजी थी मदन उन्मेषित गुंजारों से भरी हुई थी। माधवी (लता) तू ही बता कौन रस शेष रह गया था? कवि-कल्पनाओं के कौन स्वप्न उस दिन पूरे नहीं हुए? स्नेह गर्भ के रत्नों से उस दिन रत्न गर्भा की श्री आलोकित हुई थी। आज वे सब व्रीड़ा-चित्र वियोग के पट पर अंकित हैं। वीणा की उन झनकारों की प्रतिध्वनि कानों में गूंज रही है। मेरे जीवन धन, मेरे नयनों में समा कर मेरी निर्निमेषी निराशा निशा को संयोग से प्रदीप्त कर आशा आलोकित कर दो, वियोग सुहावना हो जाय।

इन्हीं भावनाओं में उस स्नेह-प्राणा को दिन काटते देख कर कवि कल्पना ने उसे 'मानस-हंसिनी' के रूप में चित्रित किया। 'मानस हंसिनी' में राधा की स्मृतियाँ शीतलता लिये हैं, उनमें ताप नहीं, शीतलता है, उद्वेग नहीं, स्मृति जन्य सुख है; वे दुःख की नहीं आनंद की अभिनंदनीय वस्तु हैं। चाँदनी रात में हरे-भरे बनों के बीच शान्त भाव से बहने वाली भागीरथी की भाँति यह 'मानस-हंसिनी' है।

'मानस-हंसिनी' संयमपूर्ण कलाकार के निखरे हुए सौंदर्य की प्रेम-धारा है, जिस में ध्वनि-व्यंजनाओं के कल्पना-चित्र, प्राणों का मधुर संगीत सुना जाते हैं। प्रिय के चुंबन उपहार माँगने पर कुंज की माधवी लता की ओर लज्जानत हो कर देखना, मौन रहते हुए 'उपहार' देने की स्वीकृति है। इसी भाँति "सती की धरोहर को बीन दूंगी मैं हार में; वे सुरीली बजावेंगे बाँसुरी, मैं साँस लेना त्याग दूंगी आज," आदि में भावना और कला का मणि-कांचन-संयोग हुआ है और कवि मौन रह, कुछ न कहने पर भी सब कुछ कहा गया है।

वातावरण और परिस्थति-निर्माण में भी भावुक कवि ने अपनी नवउन्मेषशालिनी प्रतिभा का सहृदय संवेद्य उपयोग किया। उर्वरा कल्पना ने हिमप्रान्तों की शोभन प्रकृति में राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं को दिखला कर कृष्ण-काव्य को वह शोभा प्रदान की है, जिस का उस में अब तक प्रायः अभाव था; और विशेषता यह है कि ऐसा करने पर इतिहास का अतिक्रमण भी नहीं हुआ और भाव की रक्षा के साथ सौंदर्य की वृद्धि भी हुई है।

कृष्ण और राधा की प्रेम लीलाओं की स्थली अधिकांश रूप से ब्रजभूमि ही यद्यपि रही है, किन्तु महाभारत शान्ति

पर्व में उल्लेख आता है कि कृष्ण ने अपने बचपन के कुछ वर्ष हिमप्रान्तों में भी बिताये थे। कवि के लिये इतना ही संकेत पर्याप्त था, किन्तु उसे और भी प्रेरणा हिमालय में राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं को दिखलाने की कृष्ण-साहित्य में राधा और कृष्ण की पार्वती और शिव से एकरूपता की भावना से मिली। शिव और पार्वती की प्रेम लीलाएँ हिम प्रान्तों में होती हैं। शिव, नाद पंथी योगी हैं। मुरली, नाद की प्रतीक है, हिम शृंगों में, देवदारु के वनों में चन्द्रिका धवल यामिनी में सुरीली मुरली सुनने को क्यों न सती साँस तक रोक ले? कालिदास के अध्ययन ने कवि को आगे बढ़ाया और सम्भवतः, "तमवीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहंती। मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः, शैलाधिराजतनया न ययौ ततस्थौ॥" ने 'न गई, जहाँ की तहां मैं रही' बना भी दिया। दम घुटा देने वाले नागरिक वातावरण से अलग दूर हिम प्रान्तों में कवि ने राधा और कृष्ण के जीवन में दिखला कर प्रेम को प्राकृतिक सौंदर्य से सजीव किया है। और 'मानस-हंसिनी' में शोभन प्रकृति के बीच प्रेम की वह चाँदनी छिटकाई है, जिस का कृष्ण काव्य में एक प्रकार से अभाव ही अब तक था।

(मानस-हंसिनी)

१ हिमालय की तन्द्राओं के प्रिय स्वप्न,
बादल के दल प्रिय बरसने धाये,
मुस्कानों की मलिन विद्युन्माला चूमती है,
अचल जीवन की छाया,
वसुमती का मद प्याला भर देती है,
पीने को प्रतिबिम्बों की हरियाली,

यौवन व्योम में प्रेम भरी सघनता,
चुम्बन-तड़ित जगमगाने सरले दो !
जीवन-वर्षा के शिशु प्रतिबिम्बों में,
नूतन हो हो पल पल लहराने दो !

२ शरद सुन्दरी की गोदी में, प्रकृति देवी की श्रान्त सुषमा,
शृंग माला के कुंजों तले कल्लोलिनी बाला की लहरी,
लाड़िली लोल लालिमा बीच, नक्षत्र मालालंकृत नीलिमा,
सुचारु चन्द्रिका वितान तले, उनींदी विश्राम लेती थी;
उद्भ्रान्त हृदय ताराओं की माला को नैनों से जपता,
तुंग मालिका पर तरंगिणी स्वर लहरी श्रुति-सुधा पीता,
पर मालती माला के तले रूप मालती सुप्त यौवना;
स्नेहार्पण निश्चिन्त काव्य की नव्य भव्य मूर्ति वंद्य थी,
मृदु मुख चन्द्र की चाँदनी पर सोये हुए थे लोचन कंज,
मंजु शरच्चन्द्र मरीचि माल, सुधाधर वसुधा पर खेलती !

३ मधुप बनेंगे, मधुपान करेंगे आज को,
त्रयोदशी छहरी है वर चन्द्र कला,
ज्योत्स्ना यामिनी शरद नीलिमा अपार,
हृदयेश चूनरी भर फूल चुनेंगे,
मैं हार बीन के पहिनाऊँगी आज को,
वीचि विलास से भरी है नंदागिनी,
शीतल पवन शिथिल करती है गात को,
मैं प्रेम नौका पर चढ़ूंगी,
हृदयेश नाविक बनेंगे शान्ति शाली रात को,
अली ! रूठ जाऊँगी जो चूम लेंगे,
रूठ-रूठ कर करूँगी अटल ध्यान को;
सती की धरोहर को बीन दूंगी मैं हार में,

पहिना दूंगी हृदयेश को;
व्योम विचुम्बि नंदा की चोटी,
जल नीलिमा की सुखदा सुहा रही है,
वे सुरीली बजायेंगे बाँसुरी को,
मैं साँस लेना त्याग दूँगी आज को !

४ सरष सुषमे ! आज खेलो, लतिकावलि की कलियों पर,
तुम्हें जगाने आयेंगे रिझाने आयेंगे अलि,
उन्मादी उपासकों की गूँजों से, गुंजारों से
कुटुज हो, कुसुम हो खिलना मधु माधव के आगम में,
निगम नीराजन करेगा, अलख आलिंगन विचुम्बन,
सुरभी विजन डुलायेगी मद आलसा मृदु मद मार्जन
कल्पना के सुकोषों से द्रवित निधि दिव्य रूप-राशि
हासमयी उपहास-भरी 'उद्विग्न' अर्चना करेगा,
बरेषी ! बरमाला बीन सुमानस-हंसिनी विहरना,
चुगना विखरे मोती रस, तुम स्ववश विहारिणी बनना ।

५ वय-बल्लरी खिला था व्रीड़ा का कुसुम,
नैनों में लहराता था हृदय वारिधि,
नवेली प्रिय निकुंज बेलियों के तीर,
निर्जनता मथती थी युगल हृदयों को,
मुख पंकज में वन्दी थे मधुकर बचन,
नैन करते थे कुंज कुसुमों का अर्चन,
वय त्रयोदशी-प्रदोष-व्रती दम्पति थे,
व्रत खोलने को मनञ्जहार पिरोते,
चन्द्रिका में चित्रित था विमल चन्द्रानन
मैं बीनता मृदुल कुसुमों की बालियाँ
नत नैनों से निहारती थी किशोरी,

क्या मोल लेंगे अनमोल बालियों का ?

६ आज मन-माला के मृदु कुसुम खिले हैं,
मधु भरे हैं मधुप बिना हैं सरस सुमन
वन माला बीन सकेगी क्या अलिनी,
शरद सुन्दरी के रसमय शृंगार को ?
निहार लो सरोवर तीर प्रिय मालती,
अनूप रूपवती रसीली कुसुमिता है
मेरे स्वप्नों की मालाएँ बीनते हैं या नहीं ?
चित्रलेखा के प्रिय कवि वर,
मेरे नैन खंजनों के शरद रितुमय
कल्पना सरसीरुहों के बन्दी मधुप
लली ! स्वप्नावलि की चैतन्यता चुन
उपहार पिरो रहे हैं या नहीं ?

७ आज मैं चीन्ह लूँगी माखन चुरैय्या; माखन चुरैया,
मन चुरैय्या घनश्याम,
बरसेंगे वे बरसायेंगे वर वारि,
जगेंगी मनहर संजीवनी बूटियाँ,
माखन लपटाए मुख की अमल छवि के,
कमल को चूम लेंगे नैनों के भ्रमर
खिलेगा मन-मानस में वह सरसीरुह,
नैन निकुंज तीर स्नेह रवि प्रति पालित
नीरव नैन चपला द्युति दमक उठेगी,
मदन मोहन की रूप जलदावलि मध्य !

८ दुपहरी थी, मैं कुंज कुटीर के द्वार खड़ी थी,
खुली लट गालों पर खेलती,
जमुना किनारे की बालुका गर्म थी,

लू ललकारियों से लतिका व्याकुल थी,
सो रहे थे गोकुल के नर नारी,
निर्जन पड़ी हुई थी विपिन की बटिया,
ऐसे समय गया नंद-सुवन द्वार से,
सुना, कंस ने उसे मथुरा बुलाया था,
मैं अकेली थी बन बेलि निकुंजों में,
कदम्ब तले बकुलों की लगी रटन थी,
गूंज रहे थे भ्रमर, प्यारे कुंजों में जब,
श्याम, कुटीर की बाट मथुरा गये,
न गई, न रही, जहाँ की तहाँ मैं रही,
अकेली बन बेलि बीच बनालय में,
आसमानी नीलिमा में लिखती रही,
नैनों से प्रिय नाम के आखर दोनों।

६ तारों से जगमग नीलिमा का वितान,
उस के तले सुहावनी शरद-यामिनी,
दिनेश-बालिका की वीचि-विलास-बीच विम्बिता,
प्रिय शरश रजनी झूलती थी;
चन्द्र मालिका में चित्रित निकुंज कुंज,
स्वप्न मालिका में ज्यों जीवन चित्रित हो,
शरदानंद की लहर-सी पावन डोलती,
लोल जमुना की लहर-कणों से शीतल,
कल्पना-कुंजों में प्रेमी राधा कृष्ण,
कलपता था नेह जिन के सौन्दर्य पर,
राधिका के पदों की कोमलता महान्,
मनोहर स्वप्न चुभे जाते इन पदों पर,
नंदन कमनीयता पर लदी हुई थी,

मनोरमा श्रान्ति दिवस के अवसान की,
खिली हुई मालती की कुसुमांजलियाँ,
मुस्कराते मृदु मदन के स्वप्न उन पर,
कामिनी-कामना की कमनीयता की छाया से,
पले श्याम के अंग मनोहर,
गल बाँहें डाले, गोद धारे नितम्ब,
प्रेमोपहार-सी राधा यों झूलती !
"सुना दो बाँसुरी श्याम सुरीली मुझे,
नैनों में मैं बीन लूँगी चातुरी को,
रात जो होवे रतनारी प्यारी की वासनाएँ, बीनना बाँसुरी में।"
बाँसुरी बजाने लगे नव रसिक श्याम,
नैन राधिका के नैनों में लगा के,
बाँसुरी में चमकती थी नैन चपला, नैनों में प्रिय बाँसुरी लहराती।

१० नहिं समझूँगी मैं आज रूठूँगी, सलोने नैन तारे श्याम से !
वे हैं भक्तों के हृदय के उजियारे,
क्यों चुरा गये राधा नैनों की ज्योति ?
वे मुरली धर हैं बजा लेवें मुरली,
कालिंदी-रव कूजित मंजुल कुंजों में,
लगा लेवें मनोरथ की मृदु बेलियाँ,
लोनी किशोरियों के छिछोरेपन में !
पर राधिका की मनोरथ-मेंहदी से,
क्यों रंग रहे हैं कुमारियों के मन को ?
मेरे वे हृदयनाथ, प्राण-प्रतिमा,
लुटाते हैं क्यों मुझे हम जोलियों से ?
वे प्रेम घन, मैं चातकी प्रेम-पन से,
चकोरियों के मन में बरसते हैं क्यों ?

वे श्याम, मैं श्यामा अर्द्धाङ्गिनी,
सालियों को लगाते हैं वे क्यों गले ?
मेरी है घनश्याम की छवि-रूप-राशि,
रसीली चाँदनी यामिनी में नटवर,
लुटाते हैं क्यों, प्रभुवर, गोपनीय रस,
छिछोरी छोरी गोपियों के हाथ से ?
मेरे स्नेह की प्रतिमा हैं घनश्याम,
राधा की भक्ति के ध्यान हैं घनश्याम,
राधा मन-मानस के हंस हैं घनश्याम.
स्नेह वीणा की झनकार हैं घनश्याम,
पर, बसते हैं कामिनियों के कुंज में,
गोपियों को ध्याते हैं सलोने श्याम,
मद-सिन्धु का लोग चुगते हैं स्नेही हंस,
वासना-वाणों से विंधे हैं घनश्याम,
स्नेहोपवन की मैं लोनी लतिका, वे मेरी ललिमा के पोषक माली
आली सींचते बरसते क्यों घनश्याम,
राधाकान्त, उन गोपियों के झाड़ पर ?
मेरे कानों की सुधा थी मुरली ध्वनि,
इस फाग भरी फागुन की चाँदनी में,
विष बना कर क्यों बरसा रहे हैं कन्त,
मधुमयी ध्वनि को सालियों के मन में ?

मेरी रस-रूप-राशि का प्रफुल्ल सुमन,
स्नेहमयी माँ ने, धर्म धुरीण पिता ने,
चुन कर श्याम की भेंट किया था कुसुम,
मेरा हाथ दिया था उन के हाथ में,
आहुति ज्वालाएँ साक्षी कर श्याम ने,

श्यामा बनाया था, मुझ कुमारिका को,
रहने देते कुमारी कली बालिका,
जो गले लगाना था अलि ! गोपियों को !
पतित पावन रत्नवर विवाह तीर्थ के,
वासना-वल्लरियों के कुसुम बने हैं,
लाज लता रस केलि विना, अकेलि मरी,
वे बने निर्लज्ज गोपियों के खिलौने,
आली, तब मैं समझूँ किस भाँति समझाऊँ,
उस हृदय को जो भेंट किया था उन को !
वे पतित पावन हैं, पतित मेरा हृदय,
क्यों ठुकरा दिया आलि ! मेरी भेंट को ?
११ स्वर्णमय श्रेणियों पर संध्या सुहाई,
नागदेव के निकुंजों मध्य सोहती,
चूमती चारु देवदारु की शिखाएँ,
निहारतीं हरी भरी दूब के उद्यान,
शृंगावलि मध्य सुहाती थी घाटियाँ,
विहंगम कूजित मुकुलित शस्य श्यामला,
कल्लोलिनी की लोल लहरों पर संध्या।
सुन्दरी सुलाती थी स्वीय शृंगार की,
हिमाच्छादित व्योम विचुम्बी चोटियों
पर नव उन्मेष्क्ता कामिनी की कलियाँ !

१२ पर्वताञ्चल के उस मनोरम छोर में,
समुत्थित हुआ है जहाँ विहंगम कलरव,
उदित हुए है अंशु माली जहाँ आज,
रत्नावलिऽलंकत जलदावलि कोर में,
प्रकृति देवी का करती है शृंगार स्वीय,

शोभा श्री के स्वर्णमय करों से,
जहाँ जगा रही है ऊषा स्वीय बाल,
गा-गा निर्झर झरने की मृदु प्रभाती,
वनज बाला समीरण करती है केलि,
सुमन मालाओं की सुरभि चूमने को,
नील सलिला के तल को हिलोर,
छोर-छोर जगमाती मीन केलि से,
वहीं उतुंग श्रृंगों के बीच विपिन में,
कुंज कुसुमों के तीर लतिका भवन में,
उषा की अधखिली कलियों के सम्मुख,
नैनों ने किया था प्रियतम का अर्चन,
मदनोद्बोधन की मनोहर प्रभात की,
प्रतिमा को आज निहार लेने दो अलि !
नैनोलीलन के दीक्षा रस का आज,
अली वियोग से परिमार्जन करने दो,

१३ रूप किशोरी लोनी प्रियतमा सरला !
अनोखे क्या क्या न दूंगा मैं उपहार !
चुन-चुन के जीवन का मृदुलाप,
कुसुम कुंजों की सौरभमय प्रशान्ति का !
समीरण प्रसूत कलियों की बाल केलि,
विरह वेदना से मुकुलित शशांक ज्योति,
कलुषित ज्योत्स्ना कुमुदिनी कामना से कान्तिमयी,
क्रांतिमती, यामिनी की छवि !
विरंचि वैभव की वारिद माला,
गीत गाथा निर्जनता नीरवता की,
चैतन्यता की मनहर पशु लीलाएँ,

लुनाई मधुमय चुम्बनों की भूमिका !

१४ सखि सज देना आज मेरे उपवन को,
लतिका भवन को मीन किलोलित सर को,
लोहित वर्णी ललाम साँझ शोभित है,
स्वर्णमयि शिखरावलि पर छवि बंदनीय,
शुक्ल त्रयोदशी है चन्द्रादित्य योग,
प्रकृति देवी नव नील व्योम बितान में,
प्राकृत रत्नावलि को जड़ने लगी है,
स्वीय करों से शरद जलद माला बीच,
सिधारेंगे कल्पना व्रती, प्रिय कवि वर,
उपवासी मेरी कविता बनायेंगे,
रसाकुल तिलोत्तमा के विकसे वय पर,
सुला देंगे शृंगारी स्वीय कल्पना !

१५ उपहार होना था हृदय हो गया है,
बँध गई आलिंगनों की बेड़ियों में,
बढ़ा चुकी हूं विचुम्बनों की बाढ़ में सती
की धरोहर को मैं स्वीयता को !

१६ आज गंगा तरंकुल आलि अलिनी,
शैशव बता दो आज कहाँ चित्रण हुआ ?
बीचि विलास वन की उर्मियों पर क्यों,
खोज रहा है सरल शैशब वंदनीय !

१७ आज विकट भटों से भिड़ना है प्रियतम!
वे पिशाच जुड़े हैं घटाटोप ले कर,
शूल-शेल-तोप तोमर कृपाण ले कर हृदयेश !
अब ब्रह्म दंड धरना होगा,
आँसुओं की माला से नहीं सजूँगी,

माला न दे सकूंगी प्रीतम उपहार,
हलाहल के उन घूँटों को पी लेना,
स्वीय शान्ति से सजना भारत का भाल !

१८ सजनी, वह पावस की निविड़ रजनी थी,
घन घटाओं में छिपा था नीलाकाश,
गिरि-शिखरों पर गरज-गरज बरसती थी,
मेघ-मालाएँ, लुप्त थे तारा चन्द्र,
प्रिय शरद सुषमावलि की मुकुटावलि-सी,
हेमांगना वर व्योम चुम्बित चूड़ावलि,
गिरि राज की विपिनाच्छादित श्रृंगावलि,
लुप्त थी पावस स्रोतावलि जलदावलि,
पर नैन तारा प्यारा कृष्ण खिला था,
स्नेही ज्योत्स्ना पुलकित थी वह यामिनी,
व्रीड़ा की सुविकसित सुवासित नलिनी को
नत मत्त नैन चंचरीक चूमते थे,
पिकालि विनिंदक वीणा की झनकार,
खेलती थी सुमनोहर मन-मानस पर,
बरसन हारी बरसाती थी उमड़ घुमड़,
विकस-विकास जुड़ते कामिनी कांत हृदय !

१९ श्रृंगमाला, भृंग माला, कुसुम माला,
किसलयांजुलियाँ, मृदु पल्लवांजुलियाँ,
अली अरुणोदय की अरुणी गोदी में,
बन-बाला सी खेल रही थी समीरण,
जन्हु-लली की सुललित लोल लहरों पर,
मानस की भाव-माला-सी फेनावलि,
रवि किरणों से रत्नगर्भा कान्तिमान,

उन्मेषित सुषमा कुंज कुटीर के द्वार !
कलित विहगावलि के कोमल कलरव से,
निर्झर रव-रणित मनोरम बन-माला,
खेलते थे रिषि-आश्रम के मृग शावक,
किशोरी बीन रही थी कुसुम बालियाँ,
आलियाँ सींचती थीं, तुलसी-पादपों को,
प्रिय पार्थिवों को पूजते थे रिषि राज,
वेदाध्यन में लीन थी शिशु मंडली,
होम धुएँ से धुमिलाती आश्रम उषा,
मैं ऊषा-सी, ऊषा-स्वप्न-सी,
ऊषा सरला के प्रद्युम्न पिरोते थे हार,
बिखराये मैं ने मन-माला के कुसुम मनोरथ,
लली चारु अंचल चित्र पर !

२० आज ग्रीष्म सुषमा को हम लूट लेंगे
कमनीय कुसुमाकर की कांति खिली है,
नंदागिरी में बह रही है नीलिमा शीतल,
समीर डोलती है विपिनों में ;
प्रियतम देवदारु की प्यारी पंक्तियाँ,
हेमांगना शैलेन्द्र की प्रिय चोटियाँ,
तारिकालंकृत चन्द्रिका वितान तले,
गूँज उठेगी श्री बाँसुरी की धुनि से !
सरला ! सरोवर पर फैली हैं चाँदनी,
मनोज्ञ मनोज्ञ मीन जोड़ियाँ करती हैं केलि,
नव नील तल को हिलोरती है समीर,
मैन कान्ति बरसती है मृदु नैनों से,
तरणि पर तैरेंगे छटा निहारेंगे, कान्ते !

लगायेंगे काव्य की क्यारियाँ,
मृदु मुसकानों के मनोहर उपवन में,
केशर क्यारियाँ सजूँगा चुम्बनों की,
हृदयनाथ निर्झर कूजित कुंज कुटीर में,
सेज सजूँगी कल्पना कलियों की,
काव्य कान्तार में गूँज उठूंगी,
कमल कोष बंदी उषा उन्मेषित मधुपी-सी,
स्नेहोपवन की मैं मालती बनूंगी,
बनूंगी मालिनी कल्पना क्यारियों की,
लगाऊँगी सरस उपमा की डालियों,
अलंकार कुसुमों की बोनूंगी माला,
चुम्बनों की दीक्षा को मैं जप लूँगी,
कलापूर्ण कलाधर की नीरवता में,
सुप्त कलियों के स्वप्नों के सन्मुख
मधुपी उपहार करेगी मधुकोष को !

२१ आली सुहावनो बसंत बारि बरसै,
शुभ्र शैल भृंग उत्तुंग पर हेम बरसै,
काली काली घटाएँ घन की गरजैं,
त्यागो न प्रीतम को संग-त्याग बरजैं,
भीम मनोहर करती हैं प्रिय केलियाँ,
प्यारी-प्यारी लहराती हैं बेलियाँ,
चुन लो प्रिय कुसुमों को सलोनी सखियो,
विसर्जन न हुई जब लौं प्रिय की सुषमा !

२२ अम्बे ! आज खेलोगी क्या इस श्मशान में मंगलमय खेल !
मुरझाई श्रीहत श्री लता, नहिं कुसुम कोषों में पराग,
खेलता है अन्तक सर्वथा, नीरज कोषों मे रज भरा,

रसिक मन नीरस हुए मातु अम्बे ! आज खेलोगी क्या ?

२३ आना मातु कालिके आज महिष मर्दिनी सिंह-वाहिनी ?
पाप वाहिनी ! चतुरंगिनी चमू दिशि-दिशि गरज रही है,
शक्तिदा ! भागे शाक्त भीत, अभय बर दे गरज-गरज कर,
अग्नि ज्वाल से तीन नयन, सु श्याम कंज माल अम्बिके !
शूल शेल खड्ग धारिणी ! विशाल जूटिके मृणालिके !
मशान वासिनी सर्व मंगला ! भुजंग अंग प्रीति-मालिके !

२४ भारत की गोदी का आज लाल गया,
गया भाल की वेंदी का वह उल्लास,
साइमन शिकारी से त्राण करता हुआ,
माता की लाज, प्यारा 'लाजपत' गया,
सु-सेनापति सैनिक साधु समर्थ गया,
तज दो रोने का व्यापार गरज उठो !
लाज रखने को बीर बर लाजपत की,
होड़ करो बीर वर पथ पर चलने की !
उस तीर्थ पर अन्याय की तलवार से,
बलिदान होने के लिये बढ़ो लाल,
न हो लाजपत लाल की लाज लुटजाय,
ध्यान हो उस तीर्थ पर तन त्यागने का !

२५ न हो, नहिं छू पाऊँ तेरे चरण को देवि !
त्रिवेणी तीर्थ में न नहा पाऊँ,
चुम्बन पारा विनिर्मित नहिं कर पाऊँ,
मैं विम्बानुकारी अधर पल्लवों को,
न निहार सकूं उन पर मनहर प्रतिविम्ब,
कल्पना बेलि की लहलही अमर छटा,
जीवन ज्योति से न कर सकूं आलोकित,

प्राण प्रतिमे तिहारी पतित पावनता !
काव्योपवन की कल्पना क्यारियों पर,
निर्जनता, नीरवता बेलाओं बीच,
ज्योत्स्ने न हो सुधा वर्षण न हो,
अमरता न पा सके समाधि-स्वप्नावलि
न हो कंकण के, किंकिणि के, नूपुर के
सामवेदीय पतित पावन गानों की
झनकारों से, तानों से गुंजारों से 'उद्विग्न'
कल्पना-कुंज गुंजित न हो !
नील सलिला शैल बालाओं के तीर,
किसलय कलिका कुसुम प्रसूता सरस रितु,
हेमालंकृत विपिनाच्छादित श्रेणियों के,
बीच बालारुण स्वर्णिमा तले अहो !
विहंगम-कुल कलरव कूजित प्रभात में,
प्रपात तीर कुसुम कुटीर के द्वार पर,
न हो हंसवाहिनी हंसमाला बीच चित्रित,
खड़ी न हो रस चेतन करने को !
चैतन्यता के इस उपहार हार को न
हो ठुकरा दो, जीवन-तरणि डुबा दो,
अतएव केशर-क्यारियों की ये रचना कि,
मधुपी इन सुमनों को चूमती रहे !

५—कुसुम-कुंज

कुसुम-कुंज डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (१६०१ ई०-१६४४ ई०) की रचना है। डाक्टर बड़थ्वाल को आचार्य के रूप में एक दिव्य विभूति की तौर तो सभी साहित्यिकों ने विस्मय और उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। सफल अध्यापक का स्वरूप उन के विद्यार्थियों के समक्ष वंदनीय रहा है, किन्तु आचार्यत्व के शिखर पर वे जिस साधना मार्ग से पहुँचे हैं उस के किनारे काव्य-प्रेम की शीतल धारा सदैव विद्यमान रही है, बुद्धिवाद ही के आसरे वे तत्वज्ञान तक नहीं पहुँचे हैं। चेतना और अनुभूति जन्य ज्ञान को अपनाता हुआ उन का बुद्धिवाद, विचार वृत्ति से परिष्कृत होता हुआ आगे बढ़ा है, इसी से उनकी कृतियों में आलोचक के प्रखर तेज के साथ ही साथ, शान्त हृदय की सहज शीतलता और स्थिर ज्योति की आनंद दायक हरियाली भी विद्यमान रहती है। जिन धाराओं का प्रसार आलोचना के क्षेत्र में डाक्टर बड़थ्वाल में हुआ है उन का उद्‌गम उन के साहित्यिक जीवन के आरंभ में ही देखा जा सकता है। डाक्टर बड़थ्वाल का साहित्यिक जीवन, श्रीनगर गढ़वाल से, स्कूल के पत्र संपादन से आरंभ होता है। कालीचरण स्कूल लखनऊ, डी. ए. वी. कौलेज कानपुर, और काशी-विश्व-विद्यालय में भी उन्हों ने इस कार्य को किया। पत्रों में निबंध लिखने के अलावा, गद्य-काव्य और पद्य रचना के क्षेत्र में भी उन्हों ने अपने साहित्यिक प्रयोग किए। पद्य उन्हों ने कुछ समय तक 'अम्बर' उपनाम से रचे। 'मधुकोष' के रचयिता उन के मित्र का नाम 'रत्नाम्बर' था, उन्हों ने अपना नाम 'अम्बर' रख लिया, इस नाम के रखने में आकाश का ज्योतित नीला

व्यापकत्व और सूक्ष्म निर्गुण अव्यक्त रूप का भाव भी उन के मन में काम कर रहा था। उन के दूसरे हृदय मित्र भोलादत्त चन्दोला ने उन से होड़ लगाई और अपना एक उपनाम 'अम्बरीश' भी रख लिया। अम्बरीश की कविताओं का संग्रह हमें 'मानस-हंसिनी' के रूप में मिलता है 'अम्बर' की पद्य रचनाओं का संकलन 'कुसुम-कुंज' है। गद्य काव्य इन्हों ने 'विलोचन' और 'व्योमचन्द्र' उपनाम से लिखा।

अम्बर का जन्म १७ मार्गशीर्ष १९५८ विक्रमीय संवत को लैन्सडौन के निकट पाली गाँव जिला गढ़वाल में हुआ। उन के पिता ज्योतिषी गौरीदत्त जी संस्कृत के पंडित थे। उन्हों ने अम्बर को आरंभ में संस्कृत तथा हिन्दी की शिक्षा दी। आरंभिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् अंबर को अंग्रेजी पढ़ने गवर्नमेन्ट हाईस्कूल श्रीनगर गढ़वाल में भेजा गया, वहाँ पढ़ाई के बीच वे एक हस्तलिखित पत्रिका 'मनोरंजिनी' भी निकालते रहे। वाक् प्रतियोगिताओं में विशेष भाग लेते रहे, फिर १९२० ई० में कालीचरण हाईस्कूल लखनऊ से जहाँ कि बाबू श्यामसुन्दर दास हेड मास्टर थे सेकिन्ड डिविजन में मैट्रिक्यूलेशन (रौल नंबर ५८०) और फर्स्ट डिविजन (रौल नम्बर ३६०८) में हाई स्कूल पास किया। इन दोनों कक्षाओं में उन के साथ पर्वतीय विद्यार्थी सदानंद जी अणथ्वाल और भोलासिंह जी विष्ट उन के सहपाठी थे। १९२२ ई० में डी. ए. वी. कालेज कानपुर से सेकिण्ड डिविजन में इंटर (रौल नम्बर ७७०) पास किया। इंटर में कानपुर में अंग्रेजी का, 'हिलमैन' पत्र वे निकालते रहे, इस समय उन के पिता का देहान्त हो गया और अनेक कठिनाइयाँ आ गईं इस लिए पढ़ाई दो साल के लिए रुक गई। इस बीच उन के कुछ लेख देहरादून से निकलने

वाले पत्र गढ़वाली में निकले ! कुछ में गढ़वाल की किंगजौर्ज हाइस्कूल की तत्कालीन अव्यवस्था पर प्रकाश डाला गया था, कुछ में छत्रियवीर पत्र के द्वारा 'नवयुवक संघ' में डाली गई अड़चनों की विवेचना की गयी थी। गढ़वाल नवयुवक संघ के मंत्री वे इस समय थे, 'पुरुषार्थ' संपादक गिरिजादत्त जी नैथाणी के संपर्क में भी इसी समय आये और पुरुषार्थ पत्र का संपादन भी कुछ समय तक किया। १९२६ ई० में काशी विश्वविद्यालय से बी. ए. (रौल नवम्बर ९१) अंग्रेजी, राजनीति तथा हिन्दी ले कर दूसरी श्रेणी में पास किया। गढ़वाली भाषा में कुछ नाटक इस समय लिखे।

सन् १९२८ ई० में काशी से विश्वेश्वर नाथ जैतले, गंगाचरण दीक्षित, हरिहरनाथ, सच्चिदानंद भारतीय, शिवशंकर तिवारी, केदारनाथ तिवारी, रंगनाथ शर्मा तथा त्रिवेणीप्रसाद बाजपेयी के साथ हिन्दी में पहिली श्रेणी में एम० ए० किया (रोल नम्बर १४) था। एम० ए० का परीक्षा निबन्ध छायावाद पर इन्हों ने लिखा था जिस की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई थी। सन् १९२९ ई में एलएल० बी० पास किया। रिसर्च १९२८ ई० में ही ले ली थी १९३० ई में काशी-विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हुए। १९३१ में 'दि निर्गुण स्कूल औफ हिन्दी पोयट्री' लिख कर दे दिया। बाबू श्याम सुन्दरदास, रामचन्द्र दत्तात्रेय तथा टी० ग्रैहम बेली परीक्षक थे। बेली ने थीसिस को पी० एच० डी० के लिए रिकमेण्ड किया। डाक्टर बड़थ्वाल ने फिर से उसे लिखा और १९३३ ई० में डी० लिट० उस पर ली। इस बीच कबीर ग्रंथावली की भूमिका, सतसई सप्तक, तुलसीदास और रूपक। रहस्य लिखे। 'प्राणायाम विज्ञान, तथा ध्यान से 'आत्म चिकित्सा' इस से पहिले लिख

चुके थे। इसी समय से गोरख नाथ आदि योगियों पर काम शुरू किया। १६३४ ई० में पौड़ी, श्रीनगर, देवलगढ़ की यात्रा की। योगियों पर पहले एक छोटा सा लेख 'हिन्दी काव्य में योग प्रवाह' लिखा जो कि नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में छपा। उसी समय के आसपास 'आचार्य कवि केशव दास' लेख भी लिखा। गोरखवाणी का पहला भाग १६४३ ई० में साहित्य सम्मेलन से छपा। निबन्धों का संग्रह योग प्रवाह मृत्यु के बाद छपा। 'निर्गुण काव्य धारा' तथा मकरंद (निबंध संग्रह) व 'सूरदास जीवनी' अभी हाल ही में लखनऊ से छपे हैं। १६३८ में लखनऊ विश्वविद्यालय में चले। आये यहाँ का संघर्ष मय संकीर्ण वातावरण उन के लिए अनुकूल न पड़ा और तरह तरह से वे सताये गए। १६४२ ई० में तिरुपति में 'निरंजनी काव्य धारा' पर प्रकाश डाला। १६४२ ई० से अस्वस्थ रहने लगे। २४ जौलाई १६४४ ई० को पाली में इन का देहान्त हो गया। डाक्टर बड़थ्वाल ने समय समय पर अपनी मनोदशा के अनुकूल पद्य रचनाएँ रची हैं जिन में उन का व्यक्तिगत जीवन भी है।

१ उबारिये मोह त्वरित रघुबीर !
जगत जाल बीच आय फँस्यो भ्रमि, दीखत नहिं तदबीर !
सुरझि भजन को जतन करत ज्यों, उरझत जात शरीर !
सन्ताप दाह नित चित्त दहत, मोहि बँधत नहिं धीर
अपनौ दुख कहौं मैं का सों, प्रणत-पाल रघुबीर !
तो बिन आश नहिं काहू की, वारिद वरण शरीर !
ध्यान धरौं नित तव चरनन को, अजहुं धराओ धीर !
ज्ञान विहीन दरिद्र दुखी मैं, हरो राम ! मम पीर !

२ 'रत्न' जिस पर विश्व सारा मर रहा है,

है वही निर्धन अगरचे तो कहो,
शून्य 'अम्बर' के लिए फिर क्या कहें !
क्या हुआ ऊँचा अगर वह हो गया,
इस सुअवसर पर तुम्हें अर्पित करे,
हृदय के अतिरिक्त उस के पास क्या !
पर उसे तो वह कभी का दे चुका,
शून्य का बस शून्य ही उपहार था !

३ इन्दु ! सित किरण 'इन्दु !' अहो ! सकलंक,
जलधि जनक तव, तव उमड़त तोहि लगावत अंक !
तऊ नेकु नहिं नेह दिखावत रूखो हृदय मयंक !
दूर रह्यो अह ! नियरावन तो होवत तू बहु बंक !
कबहुँ दुरावत, अर्द्ध दुरावत पुनि प्रगटै सह पंक,
कला कलंकित दिखरावत इमि पितु समक्ष निश्शंक !
स्व तन-परस तें करत अपावन निर्मल 'अंबर' अंक,
कृष्णाम्बर धरि करत अतः वह प्रायश्चित सशंक !
जड़ आकर्षण, शक्तिवान तू, मन आकर्षण खंक,
लोग सुधारक तो हि बतावहिं स्नेह सुधा रस रंक !
देखत मैं जदपि ऊजरो तू, हिम तव कारो कंक,
या ही तै हे इन्दु ! जानि लै वे लाग्यो कलंक !

'रत्न' अम्बर के मित्र 'मधुकोष' के कवि रत्नाम्बर दत्त चन्दोला हैं, जिन्हों ने विपदा में अम्बर की सहायता की। इन्दु कोई रूप गर्विता है किन्तु स्वयं अम्बर से उस का प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध न हो कर 'रत्न' के नाते अप्रत्यक्ष संबंध है। जान पड़ता है अम्बर, इन्दु को प्राप्त करना चाहते थे इसी से अन्योक्ति के रूप में अपने मित्र के भावों को अम्बर ने इन्दु में व्यक्त किया है।

अपने हृदय की वीणा अम्बर ने 'वीणा' में मिलाई है। वीणा की पंक्तियाँ बनारस में १९३४ ई० में लिखी गई—

४ वीणाधारिणि की वीणा के होवें अभिनव शृंगार!
निर्भय किसी व्यथा से अपनी तड़फ-तड़फ उठते जो तार!
बजती है बज बीणा मेरी छहरा पीड़ा का सुख-सार!
विश्व विमोहन का ओम् ले कर मेरी वीणा फिर झनकार!

राष्ट्रीय चेतना के आदर्श बाल गंगाधर तिलक को अम्बर ने अपने हृदय की सुमनांजलियों तिलक बन्दना और तिलक निधन के रूप में अर्पित की हैं—

५ जय-जय तिलक बाल गंगाधर भाल तिलक भारत के,
जय निर्भीक हृदय, धर्म-ध्वज, प्रिय त्राता भारत के!
दुखिया भारत के दुख हर्ता तेज पुंज जय-जय-जय!
राष्ट्र-बेलि के पालन कर्ता, ज्ञान-कुंज जय-जय-जय!
तेंतीस कोटि जन भारत के इक स्वर जिसे सराहें,
भारत माँ विछोह में जिस के, छोड़ रही है आहें!
देश-हितार्थ विषम दुख को सुख स्वर्ग सम मानें,
जयति स्वाभिमानी, द्विज कुल मणि जिस के गुण जग जानें!
स्वातंत्र्य मंत्र फिर फिर फूँका मोहित बीर जगाए,
भारतीय हृदयों से भगवन् भाव भयादि भगाए!
"जन्म सिद्ध अधिकार हमारा है स्वराज्य" दिखलाया,
लोक मान्य भूले भटकों को सीधा पथ दिखालाया!

६ वज्र हा! टूटा अचानक! भाल भारत फुट गया!
मिट गया भारत-तिलक निर्धन खजाना लुट गया,
शोक चारों ओर छाया, हिन्द आरत हो गया,
बाल गंगाधर तिलक बिन रिक्त भारत हो गया!
था वही निर्भीक नेता, दुःख नाशक हिन्द का,

प्राण से भी था अधिक प्रिय हिन्द के जन वृन्द का,
विज्ञ वर गीतार्थज्ञानी खो गया हा ! खो गया ।
बाल गंगाधर तिलक बिन रिक्त भारत हो गया !
वृक्ष लतिकाएँ जहाँ, सौहार्द-दृढ़ता-धीरता,
हिन्दु मुस्लिम एकता-सौजन्यमय वर बीरता,
राष्ट्र उपवन का अहह ! अति दक्ष रक्षक खो गया,
बाल गंगाधर तिलक बिन रिक्त भारत हो गया !
लोक मान्य अनन्य धार्मिक और भारत भक्त थे,
अनय के कट्टर विरोधी, न्याय में अनुरक्त थे,
पाश-मोचन कार्य में संलग्न केहरि सो गया,
बाल गंगाधर तिलक बिन रिक्त भारत हो गया !
हा ! बिदा देते उसे संतप्त जग सब हो गया,
चेतना युत तो रहे ही शून्य अम्बर सो गया,
अभ्र बोले यों कड़क कर 'भाग्य-भारत सो गया,
बाल गंगाधर तिलक बिन रिक्त भारत हो गया !'

'सुर सरि-स्तवन' अम्बर की सांस्कृतिक चेतना की तथा अनुवाद वृत्ति की द्योतक है—

७ दुख द्वन्द्व नाशी भव भ्रान्ति हारी, चतुर्वर्गदा सर्वदा सौख्यकारी,
अहो ! शान्ति दा माँ ! अशान्ति प्रहारी,
अहा ! तव तटों बैठ चिन्ता विमुक्त, मनस्थैर्य्य औ,
धैर्य्य औ, शान्ति युक्त, तपश्चर्य साधा कई ध्यानियों ने,
बनाये बृहद वेद वे ज्ञानियों ने,
भरा ज्ञान का सार जिन में अनन्तः, यशोगान से पूर्ण तेरे दिगन्त,
बड़े सम्पदा-धान्य-व्यापार घेरे, बढ़ी भारती सभ्यता कूल तेरे,
दिखा नम्र हाँ, गर्विले उद्गतों को सदा बेधती चीरती पर्वतों को,
सतत पार तू योजनों भूमि करती,

परार्थाय जा सिन्धु को नित्य भरती,
कुतूहल जनक खेल किल्लोल न्यारा,
मनोस्पष्ट व्याख्यान पीयूष धारा
कि जो सौख्य औ, मुक्ति चाहो तथैव,
रहो लीन परमार्थ में तो सदैव।
तरंगे अहो मातृ तेरी अशेष, उमंगे नयी ला रही हैं विशेष !

अहो ! सुन्नता देह से हर रहीं हैं,
महा स्फूर्ति को चित्त में भर रहीं हैं !
बढ़ाती स्व संपत् मिला स्वच्छ-माले !

अहो आप में तू नदी और नाले !
न भिन्नत्व रखती बना एक वेश,
मनो कर रही मातृ ! कर्मोपदेश:—
कि जो सत्य की रिद्धि को चाहते हो,
अहो, सिद्धि की वृद्धि को चाहते हो,
तजो भिन्नता एकता को रखो तो,
अहा प्रेम का मिष्ट मेवा चखो तो !

खिले पद्म जो हैं कहीं तीर तेरे,
उन्हें देख ये चित्त में भ्रान्ति मेरे,
लखे अम्ब ! जिन से व्यथाएँ हमारी,
यही नेत्र क्या नव दया अम्बुधारी !

महादीनता देख या भारतीय,
धरा अंक में है अहो अम्ब स्वीय,
इन्हें जान तू रमा का निवास, मिटाने दुखी का क्लेश त्रास,
तुम्हें जानकी ने कई बार देखा,
अहो साक्षि है आप्त बाल्मीकि लेखा,
न क्या ये प्रतिबिम्ब हैं लोचनों के,

उन्हीं के करों या कि उन के पदों के !
कहाँ तक कहूं तव गुण ग्राम माता !
जरा स्पर्श से ही भगा पाप जाता,
सुकल्लोलिने ! शुष्ठि ! शुभ्रे ! तरंगे !
नमस्ते नमस्ते नमो मातृ गंगे !

अंबर के पद्य इसी ढंग के हैं। हरि औध और मैथिली शरण गुप्त को आदर्श रूप में मान कर अंबर चले हैं।

६—मेघ-पवन

संगीत और साहित्यिक अध्ययन के साथ प्रकृति के चित्र और जीवन के प्रवाहमय शब्दों का सम्मिलन श्री चक्रधर बहुगुणा (ज० १६०२ ई०) की कविताओं में हुआ है। अनुकरण, अनुरणन और परिश्रम ने उन की रचनाओं को प्रवाह दिया है। यह प्रवाह इतना चित्रमय हो जाता है कि सामान्य पाठक को कवि की प्रेरणा की मूल कृति का भान तक नहीं होता और वह नई कृति के सौन्दर्य से आनंद प्राप्त करता है।

मेघ—

बरस सरस बरस खूब बरस मेघ मेरे !
रिमझिम तू झड़ी लगा, गगन बीच फेरे !
शैल-शिखर बोर-बोर पृथ्वी के मोड़ जोड़
हाट-बाट ओर छोर भीत औ मुँडरे,
बरस सरस बरस खूब, बरस मेघ मेरे !
सारे तर कर निकेत, द्वार देहली समेत,

भीगें खलिहान खेत गाँव, गोठ, खेरे,
बरस सरस बरस खूब, बरस मेघ मेरे !
घास उड़ी जरा जरा, क्या है जग हरा भरा !
शोभित-सब गगन धरा, स्वागत को तेरे,
बरस सरस बरस खूब, बरस मेघ मेरे !
फैला कर पंख राज, नाच रहा मौर आज,
मानों यह बना ताज, सिर को है तेरे
बरस सरस बरस खूब, बरस मेघ मेरे !
होंगे अब खूब धान, फूले हैं यों किसान,
गाते गुण कीर्ति गान वारि-वाह तेरे,
बरस सरस बरस खूब, बरस मेघ मेरे !
कूद रहे ग्वाल कहीं, गाय-भैंस नाच रहीं,
बकरी हैं भाग रहीं, भीग गये मेरे,
बरस-सरस बरस खूब, बरस मेघ मेरे !
फड़क रहे कहीं ताड़, झूम रहे हरित झाड़,
सिम-सिम कर भरे ताल, सरित सिन्धु-सेरे,
बरस सरस बरस खूब, बरस मेघ मेरे !
पतियों पर बजा ताल, छत पर चल चपल चाल,
नाना जल बिन्दु जाल, नाचते चले रे,
बरस-सरस बरस खूब, बरस मेघ मेरे !
तेरा सुन धीर नाद, भागा भव का विषाद
ग्रीष्म गया निर्विवाद कौन तुझे छेरे
बरस सरस बरस खूब बरस मेघ मेरे !

२६-७-३१ ई०

पवन

सन सन चल गगन बीच मन्द पवन प्यारे !

ठंडी-सी धार बीच, कूल तू बहारे,
चन्द्र किरण कहीं शेष, अभी दूर है दिनेश,
अरुण का हुआ प्रवेश, रंग लिये न्यारे,
रजनी को है विषाद, व्योम बीच है प्रसाद,
चरणायुध करे नाद, मंद बड़े तारे,
सन-सन चल गगन बीच मंद पवन प्यारे !
पर्वत से ले तुषार, फूलों का मधुर सार
करता तू बन विहार चला इधर आ रे !
सन-सन चल गगन बीच मन्द पवन प्यारे !
पतियों पर दे हिलोल, कलियों का सुमुख खोल,
भौंरों से कर किलोल जगा विपिन सारे,
सन-सन चल गगन बीच मन्द पवन प्यारे !
जो कुछ है ओस शेष उस पर लगा न ठेस
ले कर के शीत लेस अलग निकल आ रे,
घण्टे ले रव उमंग, डमरू-डफ एक संग,
झांझ-किंकिणी मृदंग, बजें देव द्वारे !
सन्-सन् चल गगन बीच, मन्द पवन प्यारे !
नीड़ औ निवास छोड़, व्योम बीच पंख जोड़
उड़ते हैं होड़ तोड़ पंछी गण न्यारे
सन्-सन् चल गगन बीच मन्द पवन प्यारे !
बोल पड़े इधर काक, चकवी की राह ताक,
भरता है चक्रवाक 'पी-पी' के नारे !
विधिना का सृष्टि लेख, फेनिल है सिन्धु देख,
छल-बल कर लहर रेख चूमती किनारे,
सन-सन चल गगन बीच मंद पवन प्यारे !
नागों का देख द्वंद, चन्दन से ले सुगन्ध

निज गति कर मंद-मंद गंधवाह आ रे!
ठंडी-सी धरा बीच कूल तू बहा रे,
केसर का ले पराग, कुंकुम से रंग राग
रँग दे रँग दें सुहाग, तू प्रभात का रे!
सन्-सन् चल गगन बीच मंद पवन प्यारे!

७—मुनाल मोर

श्री शान्तिप्रसाद चन्दोला (जन्म १९२७ ई०) की रचना 'मुनाल-मोर', से ये गीत हैं—

१ अथक सृष्टि क्रम, इसी तरह गति शील रहेंगे जग के सरगम,
नित्य बजेगा ऊषा का जयशंख गगन में, फूटेंगे कोंपल,
फूटेंगे शत दल बन में, उत्तर का वह हेम कूट प्रति दिन जागेगा,
आयेंगे जड़-चेतन तन्द्रा से जीवन में, और उधर चौखंभा के
चारों खूँटों पर छायेंगी हलकी बदली की सतरें सुन्दर,
गिरि अंचल को मोरिनियाँ दोलित कर देंगी, मैं न सुनूँगा तब
मुनाल के नभ-भेदी स्वर, मेरे जीवन का संगीत न रह पाया सम!

२ उड़ी बलाका, आज पराजित दिन की फहरी श्वेत पताका,
और विजय उल्लसित निशा ने दीप जलाए,
एक छत्र तम के वितान से ढकीं दिशाएँ,
आज शोक में आतुर कुछ रोदन क्रंदन कर
विहगों ने नीड़ों में अपने पर सिमटाए,
अपनी जय पर सब ने दुख को है पाया,
विजय पराजय का अबाध क्रम युग से आया,

मेरे मन से मिट न सकी पर तम की छाया, उड़ी बलाका !
३ मुझ को कलुषित करो न चार दिनों जीने दो,
मुझ को अपने हिम-प्रदेश का प्यार मिला है,
अपने शैलों का अविराम दुलार मिला है,
चैती प्रान्तों में बेसुध बोलते ममाखी के
स्वर का मधु स्नात स्नेह साकार मिला है,
पला हुआ मैं उन ऊँचे गिरि पवनों में,
जग कोलाहल न गया है जिन विपिनों में,
पथ भूला आ पहुँचा अगर तुम्हारे जग में,
मुझे न छेड़ो हारा हूँ इन विकल क्षणों में,
अपना विष मधु जो कुछ भी है पी लेने दो,
मुझ को कलुषित करो न, चार दिनों जीने दो !

८—रुद्र गीत

रुद्र गीत यशवन्त नेगी की रचना है जिस में से वैतरणी, यहाँ ली गई है।

बड़ी दूर से, यम के पत्तों के पुर से, प्रदेश से
मेघों के उर से, महाकाल की धारा आती,
गहरे गह्वर भरती, पाषाणों से टकराती,
निकल मृत्यु के महा शृंग से भैरव भीमा,
पर्वत करती चूर, बाँधती पथ की सीमा !
वैतरणी यम-सी, वज्रों-सी झरांती—
गिरती, चट्टानों के पर काट गिराती !

महा भैरवी चलती लहरों में त्वय भर कर,
किन्तु एक वह तट पर बीहड़ भैरव मंदिर !
उस में कोई दीप न जलता, तम ही निशि दिन,
महाकाल की छायाएँ ही करतीं वन्दन,
छायाएँ—मेरे पूर्व पुरुष, मृत संगी साथी पूजा रत,
मर्मर की धीमी ध्वनि आती,
घोर घोष शंखों का शृंगों पर छाया,
वैतरणी के तट पर सारा पूर्व जगत आया !
श्वेत-वसन, अक्षत चंदन से श्लथ पैरों पर,
हाथ जोड़ नत, महा काल के चरणों पर,
दुर्जित, अजेय वैतरणी-तट पर !
एक बार तो बिन्ध्यवासिनी ! सागर-तट पर जा उतरो,
ढुल उर में शत धा गंगे ! जुड़ पर्वत के चरणों में,
वर्षा की धारा ! अपना जीवन चलना शुरू करो !

ऊँचे टीलों पर काले मेघों के उर में,
मुँदे नयन होंगे प्रलयंकर अपने पुर में,
'डम-डम' पर गूँज रहा है वैतरणी तट पर,
महाकाल का रास हो रहा है वैतरणी तट पर,
मुक्त वाम पद उठा श्वास की ताल पर
गरल कंठ शिव ! महारुद्र ! ताडंव प्रवाल हर !

मुक्त चेतनानंद डोलता है—'डम-डम',
मुक्त जीवनानंद बोलता है 'बम-बम'
जटा-जूट ढुल अंधकार भरता अग-जग को,
हर सृष्टि कंप पर गिर अशनि-सा चलित पग को,
वज्र-घोष-सी, वृद्ध शृंग को काट गिराती,
महा भैरवी चली प्राण में सीधी आँधी,

'डम-डम' है गूँज रहा डमरू अनहद स्वर,
भय है, भय है, उच्छृंखल प्रलयंकर वैतरणी तट पर !
वैतरणी तट पर मेरे पूर्व पुरुष वीणा गह,
वंशी ले, तान धनुष भय रेखा पर पूजा-रत सब चुप हैं,
प्रस्तर प्रतिमा के सम्मुख नत हैं, वैतरणी तट पर !

६—बिन्दु ब्रह्मचारी

बिन्दु ब्रह्मचारी (१८८७ ई०—१९४० ई०) प्रेमी भक्त कवि थे। उपनिषद, महाभारत, राम लीला, काव्य-रस, सब में उन्हों ने डुबकियाँ लगाईं। हिन्दी गद्य, पद्य, कहानी, भाष्य सभी कुछ को उन्हों ने अपनी देन दी है। पत्रकार, निबंध लेखक और संत प्रेमी जीव वे थे।

बिन्दु ब्रह्मचारी का जन्म, घासी कटरा जिला गोरखपुर के एक सम्पन्न घराने में श्रावण १९४४ विक्रमीय (जुलाय १८८७ ई० को हुआ था। तीन वर्ष के हुए तो माता का देहान्त हो गया। दस वर्ष के हुए तो पिता भी चल बसे। दादी ने अब इन्हें पाला। पाँचवीं कक्षा तक स्कूल में भी अंगरेजी पढ़ी। उस के बाद हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत का अध्ययन किया और सत्संग में रह कर साहित्य निर्माण किए।

गोविन्द रामदास नामक, राम लीला भक्त के संसर्ग में बचपन से ही आने से राम भक्ति में इन का मन रमा। गोविन्द रामदास जी और उन के मंदिर के पुजारी विन्ध्याचल त्रिपाठी जी दोनों ही बालकराम जी विनायक रामायणी के भक्त थे।

विन्दु जी त्रिपाठी जी के साथ विनायक जी के यहाँ जाया करते और दस बजे रात से दो बजे रात तक उन के उपदेश सुनते। आगे चल कर विनायक जी, विन्दु जी के ही साथ रहने लगे। विन्दु जी ने उन की खूब सेवा की और इस प्रकार विनायक जी के परम कृपापात्र वे बन गए। विनायक जी के उपदेशों का गहरा प्रभाव विन्दु जी पर पड़ा। उन्हीं के आदेश से मानस का एक सौ आठ नवान्ह पाठ, दो वर्ष आठ माह बारह दिन तक अटूट रूप में बड़े मनोयोग के साथ किया।

विन्दु जी इस समय तक यौवनावस्था को पहुँच गये थे। इस समय इन्हों ने मुक्त पद्यों के अलावा 'तप्त हिमांशु' खण्ड काव्य भी लिखा। और गोस्वामी तुलसीदास जी के ग्रन्थों पर विचार-विनिमय के लिए गोरखपुर में 'तुलसी-सत्संग, संस्था की स्थापना की विनायक जी गोरखपुर छोड़ कर गोंडा चले आये तो विन्दु जी भी उन के साथ आ गये। यहाँ से इन्हों ने 'तुलसी पत्र' निकाला जिस का संपादन विनायक जी ने दो वर्ष तक किया। उस के बाद विनायक जी तथा विन्दु जी अयोध्या में आ कर 'स्वर्ग द्वार' पर रहने लगे। तुलसी पत्र यहाँ से भी निकला पर लोगों के सहयोग के अभाव में वन्द कर देना पड़ा। बाण भट्ट को कादम्बरी के ढंग का पांडित्य पूर्ण एक विशाल गद्यपद्य मय कथा प्रवन्ध 'हिरण्य-गर्भोपाख्यान' अयोध्या में विन्दु जी ने रचा। विनायक जी की प्रेरणा से महाभारत में न आई पुरानी कथाओं को हिन्दी में साहित्यक रूप में निकालने के लिए 'कथामुखी' मासिक पत्र ज्ञान मंडल काशी से प्रकाशित कर निकाला। बाईस अंक इस पत्र के निकले फिर विन्दु जी के स्वास्थ्य विगड़ जाने के कारण बन्द हो गया। कथामुखी में छपी विन्दु जी की सात

चुनी हुई कहानियों को प्रोफेसर व्रजराज एम० एस सी० ने 'कथा कादम्बिनी' के रूप में साहित्य सम्मेलन प्रयाग से छपवाया। अयोध्या के राज कवि विद्याभूषण जी ज्योतिषी ने संग्रहणी पीड़ित विन्दु जी का इलाज करवाया। दो वर्ष इलाज चला तव ये अच्छे हो पाये।

स्वस्थ हो जाने पर विन्दु जी ने दो हजार दोहों में काव्य के नौ और भक्ति के पाँच—शृंगार, सख्य, दास्य, वात्सल्य, तथा शांत रसों का आध्यात्म परक विवेचन 'रस-दर्शन' ग्रंथ में किया। तदुपरान्त प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य 'कनक प्रभा' की रचना की फिर नाद विन्दु उपनिषद् के ढंग पर सुरत-शब्द योग भाव का 'शब्द योग' ग्रंथ लिखा। धार्मिक विषयों पर इन के लेख 'कल्याण' में छपते रहे, गोस्वामी तुलसीदास जी की समकालीन, मिथिला वासिनी भक्त कवियित्री मंजु केशी के ढाइ सौ पदों में से बीस पद चुन कर 'आकाश वाणी के रूप में प्रकाशित किए, एक और कथा पुस्तक 'नाग नंदिनी लिखनी शुरू की थी पर स्वास्थ्य बिगड़ जाने से वह अधूरी ही रह गई। अंतिम दिनों में उत्तर रामचरित का तुलनात्मक अध्ययन करने से ये लगे थे। मोहन-मोहनी इन की कृष्ण काव्य पिषयक रचना है। उसी में 'प्रेम गीता' है जो कि चलती भाषा में रास मंडलियों के द्वारा हारमोनियम पर गाये जाने लायक ढंक से किन्तु सहृदयता के साथ लिखा गया है। उदर रोग तथा ज्वर से पीड़ित ये थे, अन्त में अश्विनी शुक्ला सप्तमी सोम्वार १९९७ विक्रमीय सम्वत् को ये चल बसे, पर इन की ये पंक्तियाँ आज भी प्रेमी भक्तों के हृदय में गूँज रही हैं।

१ कहा घनश्याम ने ऊधो से बृन्दावन जरा जाना,

वहाँ की गोपियों को ज्ञान का कुछ तत्व समझाना,
विरह की वेदना में वे सदा बेचैन रहती हैं,
तड़फ कर आह भर कर और रो कर ये ही कहती हैं—
'है प्रेम जगत में सार, और कुछ सार नहीं।'

२ कहा ऊधो ने हँस कर, मैं अभी जाता हूं बृन्दावन.
जरा देखूँ कि कैसा है न वह अनुराग का बंधन,
हैं कैसी गोपियाँ जो ज्ञान बल को कम बताती हैं,
निरर्थक लोक-लीला का यही गुण गान गाती हैं—
'है प्रेम जगत में सार और कुछ सार नहीं।'

३ चले मथुरा से जब कुछ दूर बृंदावन निकट आया,
वहीं से प्रेम ने अपना अनोखा रंग दिखलाया,
उलझ कर वस्त्र में काँटे लगे ऊधो को समझाने,
'तुम्हारा ज्ञान-परदा फाड़ देंगे प्रेम दीवाने!
है प्रेम जगत में सार और कुछ सार नहीं!'

४ विटप झुक कर ये कहते थे 'इधर आओ इधर आओ',
पपीहा कह रहा था 'पी कहाँ ये भी तो बतलाओ?'
नदी यमुना की धारा शब्द 'हरि-हरि' का सुनाती थी,
भ्रमर गुंजार से यह मधुर आवाज आती थी,
'है प्रेम जगत में सार और कुछ सार नहीं।'

५ गरज पहुँचे वहाँ था गोपियों का जिस जगह मंडल,
वहाँ थी शान्त पृथ्वी, वायु धीमी, व्यौम था निर्मल,
सहस्रों गोपियों के मध्य में थी श्री राधिका रानी,
सभी के मुँह से रह रह कर निकलती थी यही वाणी—
'है प्रेम जगत में सार, और कुछ सार नहीं!'

६ कहा ऊधो ने ये बढ़ कर 'मैं मथुरा से ही आया हूं,

सुनाता हूं संदेशा श्याम का जो साथ लाया हूँ,
कि जब यह आत्मसत्ता ही अलख निर्गुण कहाती है
तो फिर क्यों मोह वश हो कर वृथा वह गान गाती है—
'है प्रेम जगत में सार, और कुछ सार नहीं !'

७ कहा श्री राधिका ने 'तुम संदेशा खूब लाये हो,
मगर यह याद रक्खो प्रेम की नगरी में आये हो,
सँभालो योग की पूंजी न हाथों से निकल जाये,
कहीं विरहाग्नि में यह ज्ञान की पोथी न जल जाये,
'है प्रेम जगत में सार, और कुछ सार नहीं !'

८ अगर निर्गुण हैं हम तुम कौन कहता है खबर किस की,
अलख हम तुम हैं तो किस को लखाती है नजर किस की ?
जो हो अद्वैत के कायल तो फिर क्यों द्वैत लेते हो ?
अरे खुद ब्रह्म हो कर ब्रह्म को उपदेश देते हो !
'है प्रेम जगत में सार, और कुछ सार नहीं !'

९ अभी तुम खुद नहीं समझे कि किस को योग कहते हैं,
सुनो, इस तौर योगी द्वैत में अद्वैत रहते हैं,
उधर मोहन बने राधा, वियोगन की जुदाई में,
इधर राधा, बनी है श्याम, मोहन की जुदाई में,
'है प्रेम जगत में सार और कुछ सार नहीं !'

१० सुना जब प्रेम का अद्वैत, ऊधो की खुली आँखें,
पड़ी थी ज्ञान मद की धूल जिन में वह, धुली आँखें,
हुआ रोमांच तन में 'विन्दु' आँखों से निकल आया,
गिरे श्री राधिका पग पर, कहा, 'गुरु मंत्र यह पाया—
'है प्रेम जगत में सार, और कुछ सार नहीं !'

१०—रामाधारीसिंह 'दिनकर'

रामाधारीसिंह दिनकर (जन्म १६०८ ई०) में वह दिव्य प्रतिभा है जो पल भर में उसे सुकुमार कवि बना देती है और पल में ही अग्नि से जलता क्रान्तिकारी, उस के हृदय की संवेदन शीलता अत्याचार, अन्याय और हृदय के हाहाकार को देख कर जग उठती है तो सौन्दर्य को देख कर शान्त भी होती है। दिनकर की सभी कविताओं को भूल जायँ किन्तु घर जाती हुई दिव्य नव वधू और उसके प्रति प्रकट की हुई सौम्य मंगल कामनायें भुलाए नहीं भूलतीं। प्रसाद के बाद दिनकर ही राष्ट्रीय भावनाओं के सच्चे कवि हैं। राष्ट्रीयता के भाव सोहनलाल द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त के पद्यों में भी हैं किन्तु वे पद्यकार हैं कवि नहीं। दिनकर कवि हैं, कलाकार कवि नहीं। भाषा की दृष्टि से दिनकर भी जयशंकर प्रसाद की ही तरह उसके शिथिल प्रयोक्ता हैं। किन्तु भावों का जहाँ तक प्रश्न है दिनकर एक साथ ही कोमल और प्रचंड हैं। रसवन्ती और हुंकार इस की साक्षी हैं। रसवन्ती की भूमिका में कवि ने अपने विकल मन की दौड़ की ओर प्रसन्न संकेत किया है।

मुझ में जलन है, प्यास है, इसका नहीं आभास है,
यह देख हँसती बल्लरी, हँसता निखिल आकाश है;
जग तो समझता है यही, पाषाण में कुछ रस नहीं,
पर गिरि-हृदय में क्या न व्याकुल निर्झरों का बास है !

कर्म के कोलाहल से दूर वह अजान शिशु की भाँति दिन

रात क्रीड़ा की वंशी में फूलों के गीत गाता फिरता है। इसी वातावरण में उस ने नव वधू को वरदान दिया—

मंगलमय हो पंथ सुहागिनि, यह मेरा वरदान।
हर सिंगार की टहनी से फूलें तेरे अरमान।

रास की मुरली सुनी है। युद्ध के अशान्त वातावरण के बीच उस का कवि हृदय कोमल भावनाओं की ओर नैसर्गिक रीति से गया। और इसे उस के मानस ने सहर्ष स्वीकार किया है—"मनुष्य के नाते कवि का भी यह धर्म है कि वह मिट्टी के प्रति अपना दायित्व निभाये, युद्ध के वातावरण में अपना सीना खोले, और प्रहारों के आदान प्रदान में भाग ले; लेकिन कवि के नाते उस का यह भी कर्तव्य है कि वह अपनी कोमल भावानाओं की, कैद में, हत्या नहीं करे—वे भावनायें जो युद्ध के वायुमंडल में गोलियों की वर्षा के बीच सिपाही के दिल में माता की सुधि, प्रिया और बच्चों की स्मृति तथा धुएँ से दूर दूब और फूलों की याद बन कर खिलती हैं।"

हुंकार में दिनकर के विद्रोही हृदय के दर्शन होते हैं। बच्चों की भूख उस के हृदय की हाहाकार बन जाती है। कल्प-नाओं के बीच उड़ते उड़ते उसे जलती सृष्टि अपनी ओर खींच लेती है। कृषक का दुख उसे अपने समीप ले जाता है—

"जेठ हो कि पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं है,
छुटे बैल से संग कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है,
मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है!
वसन? कहाँ, सूखी रोटी भी मिलती दोनों याम नहीं है!"

सूखे स्तनों को चूसते भूखे बच्चों को देख वह विलखने लगता है।
"पर, शिशु का क्या हाल सीख न पाया अभी जो आँसू पीना?

चूस-चूस सुखा स्तन माँ का, सो जाता रो, विलप नगीना !
विवश देखती मां अंचल से नन्हीं जान तड़फ उड़ जाती।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।"
मंदिरों के बहरे पाषाण सुनें न सुनें, दिनकर उन्हें चेतानी देता है—

दूध दूध फिर सदा कब्र की आज दूध लाना ही होगा,
जहाँ दूध के घड़े मिलें उस मंजिल तक जाना ही होगा,
हटो व्योम के मेघ, पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध ! दूध !!' ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं !

युद्ध के गान भी दिनकर ने गाये हैं ! दिगम्बरी के आव्हान को सुना है, सैनिक को उत्तेजना दी है किन्तु जलते देश की ज्वाला वह कैसे शान्त करे ?

छिप जाऊँ कहाँ तुम्हें ले कर ? इस दुख का क्या उपचार करूं ?
प्यारे स्वदेश खाली आऊँ या हाथों में तलवार धरूँ !
पर हाय गीत के खड्ग ! धार उन की भी आज नहीं चमकती,
जानती ज़हर का जो उतार मुझ में वह शिखा नहीं जलती,
चीखूं किस का ले नाम ? कहीं अपना कोई तो पास नहीं !
धरती यह आज नहीं अपनी, अपना लगता आकाश नहीं !
ओ बदनसीब ! इस ज्वाला में आदर्श तुम्हारा जलता है,
समझायँ कैसे तुम्हें कि भारतवर्ष तुम्हारा जलता है !

११— जयशंकर 'प्रसाद'

"जयशंकर ! कहते-कहते हम अब भी काशी आयेंगे !
किन्तु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का मूर्तिमान पायेंगे !
तात भस्त भी तेरे तन की हिन्दी की विभूति होगी,

हँसते-हँसते आते थे हम, रोते-रोते जावेंगे !"

जयशंकर प्रसाद (१८८६–१९३७ ई) हिन्दी साहित्य के उन कर्मवीरों में से हैं जिन्हों ने वर्तमान दैनिक जीवन की विषमताओं से स्थूल संघर्ष करना कभी भी उचित नहीं समझा और इस कारण जो वर्तमान यांत्रिक जीवन से असंतुष्ट हो कर प्राचीन गौरवशाली भारत के दर्शन, इतिहास और काव्य के अध्ययन में लग गये। भारतीय संस्कृति के सतत चिन्तन, मनन और अध्ययन से 'प्रसाद' जी के हृदय में जो भावनायें उठीं उन्हीं को अपनी प्रतिभा सम्पन्न कल्पना से रंजित कर प्रसाद ने अपनी रचनाओं में काव्यमय रूप दिया है। किन्तु परिस्थितियाँ सदैव अपनी छाप व्यक्ति पर छोड़ती हैं। वर्तमान को अपनाने की अपेक्षा अतीत को महत्व देने पर भी प्रसाद वर्तमान से प्रभावित हुए बिना रहे नहीं हैं। शैली, भाव, विचार, समस्याएँ सभी ने पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण से आक्रमण किए और अपनी छाप छोड़ कर ही वे रहीं। हृदय 'प्रसाद' का अपना रहा है, मस्तिष्क भारतीय दर्शन और इतिहास ने उनकी रचनाओं को दिया है। इस लिये उन की रचनाओं में इतिहास (चाहे वह एक भावना का हो, स्मृति का हो, अथवा मनुष्य समाज का अथवा सभ्यता और राजवंशों का हो), दर्शन और काव्य तीनों एक ही सीमा के

अन्तरगत रहते हैं। प्रसाद की कोई भी रचना केवल इतिहास ही इतिहास, दर्शन ही दर्शन अथवा काव्य ही काव्य नहीं हैं। नाटकों निबंधों औरउपन्यासों तथा कहानियों की तो बात जाने दीजिए कविताओं में भी यह त्रिवेणी विद्यमान है। चाहे 'आँसू' हो, चाहे 'कामायनी', चाहे 'कानन-कुसुम' हो अथवा 'झरना' या 'लहर', चाहे 'महाराणा का महत्व' हो अथवा 'प्रेमी-पथिक' गहराई से देखने पर इस त्रिवेणी के दर्शन सर्वत्र हो सकते हैं।

भावुक चिन्तनशील कवि होने के कारण 'प्रसाद' के काव्य में दार्शनिकता का आना स्वाभाविक है। ऊँची श्रेणी की कविता में दार्शनिकता आ ही जाती है। दर्शन, जीवन के सुख-दुख के रहस्य को समझने का प्रयत्न करता है, काव्य आनन्द की रसानुभूति को अपना लक्ष्य मानता है, इतिहास दोनों का मेल करा देने वाला तत्व है। इतिहास, दर्शन और काव्य के एकत्र समन्वय से प्रसाद की रचनाओं में दुरूहता आती है और भाषा को कठिन बना देने का भी कारण प्रधान-रूप से यही समन्वय है। जिस प्राचीन इतिहास और दर्शन को प्रसाद अपनी रचनाओं का विषय बनाते हैं उन के विवेचन का काम साधारण बोलचाल की भाषा नहीं चला सकती वरन् सम्पन्न सांस्कृतिक भाषा का विषयानुकूल प्रयोग ही काम देता है। ऐसी भाषा समझने में आज के विदेशी संस्कृतिप्रिय व्यक्तियों को अवश्य कठिनाई होगी किन्तु जिसे भारतीय संस्कृति से ज़रा भी प्रेम होगा वह प्रसाद जी की रचनाओं में अपनी संस्कृति के प्राचीन युगों के सजीव दर्शन करा देने वाली प्रसाद जी की भाषा को देख कर संतुष्ट ही नहीं प्रसन्न भी हो सकता है। प्रसाद की रचनाओं की विषयोपयुक्त भाषा, वर्ण्य विषय की वास्तविकता को सजीव सत्यता देती है और

उस युग का चित्र खींच लाती है ,जिस को प्रसाद उपस्थित करना चाहते हैं। किन्तु प्रसाद की रचनाओं की कठिनाई भाषा की उतनी नहीं है जितनी भाषा के प्रयोग के ढंग की। प्रसाद को जो भाषा मिली थी उसमें आज की सी अभिव्यजनाएँ नहीं थी। प्रसाद ने नई-नई व्यंजनाएँ उर्दू, बंगला, संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य से अपनाईं। इन व्यंजनाओं के वातावरण से आरम्भ में परिचित न होने के कारण ही प्रसाद की रचनाएँ छायावाद की रचनाएँ कही जाने लगी थीं किन्तु आज उन व्यंजनाओं से परचित समाज को 'आँसू' भी यथार्थ जीवन की विरह अनुभूति का ठोस गीति काव्य ही प्रतीत होता है।

भावों की इतनी अधिक बाढ़ प्रसाद के हृदय में आती है कि वे उन्हें सँभालने में असमर्थ से हो जाते हैं, और फल होता है अव्यवस्थित अभिव्यक्ति और भाषा की अवहेलना। प्रसाद की रचनाओं को देखने से आसानी से ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ कि भाषा, व्याकरण के नियमों की चिन्ता न करती हुई अपने स्थानीय प्रयोगों को ले कर ही चलती हुई दुरूहता की सीमा पर पहुँच कर खटक ने लगती है, और भाव एक रचना में नहीं अटा सकते हैं।

भाव आधिक्य को न संभाल सकने के कारण ही 'चन्द्र-गुप्त' दो नाटकों की सामग्री ले कर चलता है और उस में प्रभाव एकता नहीं रह जाती तथा रंगमंच पर दिखलाने की कठिनाई आ उपस्थित होती है। चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक पर ही एक नाटक की समाप्ति हो जानी चाहिए थी उस से आगे एक प्रकार से दूसरा ही नाटक आरम्भ होता है। इसी भावाधिक्य के कारण प्रसाद जी आलम्बन का स्पष्ट चित्रण नहीं कर पाते जिस से अलस सौंदर्य का विकास एक कुहास

के वातावरण में रह जाता है और प्रसाद जी की लाक्षणिकता पूर्ण अप्रस्तुत विधान की ओर ध्यान देने वाला पाठक उलझन में पड़ जाता है और किसी रहस्यवाद की छाया ऐसे स्थलों में समझने लगता है। यदि नाटकों में ऐसे स्थल आते हैं तो उन्हें प्रसंग के अनुपयुक्त और दार्शनिक दुरूहता से पूर्ण समझने लगता है। 'अजातशत्रु' में बिम्बिसार के दार्शनिक उद्गारों, विरूद्धक की मल्लिका विषयक उक्तियों, मागंधी के शैलेन्द्र प्रेम के गीतों, 'स्कंदगुप्त' की प्रेम स्मृति की भावनाओं में साधारण लापरवाह पाठक ऐसी ही दुरूहता का अनुभव करता है और जब ऐसा पाठक 'प्रसाद' जी पर कुछ लिखने चलता है तो अपनी कमज़ोरियों में व्यर्थ ही प्रसाद की रचनाओं को रँग कर प्रसाद जी के प्रति अन्याय करता है। ऐसे स्थलों के उद्गार लम्बे भले ही हों परिस्थितियों के स्वाभाविक परिणाम और प्रसंगों के उपयुक्त स्थलों पर आये हुए और घटनाचक्रों के मार्मिक विवेचन हैं। 'अजातशत्रु' में दार्शनिक उद्गार पहले पहले बिम्बिसार के मुख से सुनाई देते। एकांत में बैठा हुआ वह सोचता है "आह जीवन की क्षण भंगुरता देख कर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों में लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त हो कर अनेक अकांड तांडव करता है। फिर प्रकृति उसे अन्धकार की गुफ़ा में ले जा कर उस का शांतिमय रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है। किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य व्यर्थ की आकांक्षा में मरता है, अपनी नीची किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता, नीचे से ऊँचे उठना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे भी तो क्या। (पृष्ठ ३५)।

किन्तु विंबसार की यह दार्शनिकता राज्य तथा राजमहलों में होने वाली उन घटनाओं का फल है जिन में "नवीन रक्त राज्य को अपने दर्प में देखने' का प्रयत्न कर रहा था। युवक वृद्धों को, नारी-स्वतंत्रता तथा महत्वाकांक्षा से पारिवारिक जीवन की व्यवस्था को, अधर्म धर्म को, देवदत्त बुद्ध को, देवदत्त बुद्ध छलना वासवी को, विरुद्धक प्रसेनजित को, अजातशत्रु विंबसार को अपदस्थ किया चाहते थे। किंतु वर्तमान यांत्रिक सभ्यता से उत्पन्न खिन्नता और योरोपीय प्रथम महासमर से उत्पन्न विषाद की छाया भी इस तथा अन्य कथनों की दार्शनिकता के मूल में हैं। 'अजातशत्रु' में समर की विभीषिका के काले चित्र यत्र तत्र अंकित हुए हैं। दूसरे अंक के छठे दृश्य में विंबसार मानों महासमर की विभीषिका का ही वर्णन कर रहा है "संसार भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग षडयंत्र और प्रतारणा हैं"। उसी अंक के दशवें दृश्य में (पृष्ठ १३१) तो मानों महायुद्ध से लौटा सैनिक ही (ऐतिहासिक परिस्थिति में भी वास्तविक रूप में समर से लौटा हुआ) अजातशत्रु के मुख में बोल रहा है "युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्वमय चित्र न जाने किस षड्यंत्रकारी मस्तिष्क की कल्पना है। सभ्यता से मानव की जो पाशव वृत्ति दबी हुई है उसी को इस में उत्तेजना मिलती है।" तीसरे अंक के दूसरे दृश्य (पृष्ठ १३६) में वाजिरा भी युद्ध से उत्पन्न हुई अवस्था का चित्रण मोह में पड़े हुए अर्जुन की भाँति करती है–"क्या विप्लव हो रहा है। प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिये कितना प्रयास होता है। अंधी जनता अंधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना झपटी, इतना स्वार्थ साधन कि सहज प्राप्य अंतरात्मा के सुख शांति को भी लोग खो बैठते हैं। भाई

से भाई लड़ रहा है, रहा स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं किन्तु शासन करना चाहती हैं। मनुष्य मनुष्य से प्राण लेने के लिये शस्त्र कला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को ले कर कवि कविता करते हैं।" अर्जुन के मोह और इस कथन में अंतर इतना ही है कि अर्जुन की भावना क्षेत्र की मोह निद्रा को दूर करने के लिये कर्मक्षेत्र के योगी कृष्ण की गीता आ गई थी किंतु प्रसाद के पात्रों की अथवा प्रसाद की मोह-निद्रा को जगाने न किसी शंकराचार्य का वेदान्त आता है न किसी 'मोहन' की गीता ही आती है तो एक उदास बौद्ध कालीन दार्शनिकता जो आपनी अकर्मण्य शांति से मनुष्य की शक्तियों को उत्तेजित करने के स्थान पर शिथिल कर भिक्षुकों की भोंडी सीख सिखलाती है। इस प्रवृत्ति के के कारण 'प्रसाद' अपने 'अजातशत्रु' के विम्बिसार की तरह 'नियति की डोरी' पकड़ कर उदासीनता का वातावरण उपस्थित करने वाले बौद्ध दार्शनिक अथवा दैनिक जीवन के संघर्षों से सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उस से दूर हुए इतिहास और कल्पना के लोक में विचरण करने वाले कवि बन जाते हैं। फल स्वरूप उन की रचनाओं में गहरे विषाद का वातावरण उपस्थित हो जाता है किन्तु प्रसाद की दार्शनिकता पर जब उन का हृदय अधिकार करने लगता है तो विषाद के बादल फटने लगते हैं और निराश भावनाओं के अंधकार में प्रेम की शीतल किरणें फूट कर आशा का आलोक जगाने लगती हैं, जिस से प्रसाद की रचनाएँ विषादान्त होने से बच जाती हैं।

बौद्ध दर्शन के वातावरण में रहने वाले 'विम्बिसार और बौद्ध साहित्य में लीन रहने वाले प्रसाद के मन में अकर्मण्य

विचारों का उठना स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में जब सब ओर 'विद्रोह, संघर्ष हत्या, अभियोग, षड्यंत्र और प्रतारण का वातावरण हो' बिम्बिसार राज्य से अलग होने की चाह में ही सुख देख सकता है, कर्मण्य प्रतापी प्रसेन की भाँति राज्य-संचालन करना उस के बूते की बात नहीं इसलिये वह "यदि मैं सम्राट न हो कर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती, पवन की किसी लहर को सुरभित कर के धीरे से उस थाले में चू पड़ता तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता" जैसी सुन्दर किन्तु दुर्बल भावनाओं को ही आश्रय दे कर संतोष कर लेता है।

भावनाओं के अंतर्द्वन्द और प्रेम के लोक में 'अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र मालिनी निशा' में 'लाज भरे मौन सौन्दर्य' को देखने वाले प्रसाद अपनी रचनाओं में भाव व्यंजना प्रकृति से लिए गए उपादानों की अप्रस्तुत योजना द्वारा करते हैं। 'आँसू' में—

पतझड़ था झाड़ खड़े थे सूखी सी फुलवारी में,
किसलय नव कुसुम बिछा कर आये तुम इस क्यारी में,
शशि मुख पर घूँघट डाले आँचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।

और 'अजातशत्रु' में "अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब" 'निर्जन गोधूली प्रांतर में खोले पर्ण-कुटी के द्वार' और 'चल वसंत बाला के अंचल से' आदि गीतों में बड़ी मार्मिक रीति से प्रसाद जी ने इस ढंग से भावों की अभिव्यंजना की है। अलंकारों के पीछे टेढ़ी भावना उन के काव्य-सौन्दर्य का गुण है।

प्रकृति के विराट् रूप और विराट् दृश्यों को देखने में प्रसाद की भावुक दार्शनिक कल्पना खूब रम जाती है इसीलिए जहाँ कहीं ऐसे दृश्य आए हैं प्रसाद बड़ी सजीवता से उन्हें दिखाने में समर्थ हुए हैं। 'कामायनी' में प्रलय का दृश्य, 'कामना' में स्वर्ण द्वीप की अवस्था, 'आँसू' में जलनिधि का 'बौना' बनना और नील निलय में फैले नक्षत्रों का ज्वालामयी जलन के स्फुलिंग और महा मिलन के अवशेष चिन्हों के रूप में दिखाई देना प्रसाद की विराट प्रियता का ही परिचय देते हैं। उन की दार्शनिकता इस विराट् भावना को और भी अधिक गम्भीर कर देती है और शून्य भीति पर प्रसाद की उर्वरा कल्पना रंग-बिरंगे सजीव चित्र उपस्थित कर इतिहास की पूर्ण और जीती-जागती दुनिया बना कर सुन्दर काव्य की सृष्टि कर देती है। यह उन की बहुत भारी विशेषता है।

१२—मैथिलीशरण गुप्त

युग की चेतनाओं को सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल वाणी देने वाले हिन्दी-साहित्य के कवियों में मैथिलीशरण गुप्त (जन्म १८८५ ई०) का आधुनिक युग में विशेष स्थान है। भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल गौरवपूर्ण पक्ष को अङ्कित करने के स्वाँग भरने में गुप्त जी सदैव जागरूक रहे हैं। यद्यपि सामान्य रूप से तुलसी के अनुयायी वे दिखलाई देते हैं, किन्तु फिर भी उन का व्यक्तित्व तुलसी से भिन्न है। इस लिए तुलसी के साहित्य से चाहे गुप्त जी

ने बहुत कुछ पाया है फिर भी उन की अपनी देन का निजी महत्व है।

यों तो गुप्त जी ने जीवन की विविध समस्याओं को अपने साहित्य में स्थान दिया है फिर भी मौखिक राष्ट्रीय संस्कृति उन की रचनाओं का प्रमुख विषय रही है। परिश्रम से राष्ट्रीय संस्कृति की थोथी रक्षा वे अपनी कृतियों में करते आ रहे हैं। इस रक्षा से उन्हें सन्तोष भी हुआ है लेकिन यह रक्षा पद्य के माध्यम के द्वारा उन्हों ने की है। कविता की छाप उन्हें अपने लिए स्वयं ढूँढ़नी पड़ी। सहजात या पूर्व संस्कार ही सब कुछ नहीं। परिश्रम से वर्तमान में भी बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है—यह सत्य हमें गुप्त जी के जीवन और साहित्य में आसानी से देखने को मिल जाता है। परिश्रम करते-करते ही गुप्त जी कवि बन गये हैं। इस परिश्रम में ही गुप्त जी मानव जीवन का वह अमृत पाते हैं जिस की कल्पना अन्यत्र दुर्लभ है। साकेत, यशोधरा, पञ्चवटी, सिद्धराज, कुणाल, द्वापर, अधिक से अधिक विचार के साथ कौशल-विशिष्ट कर्मण्यता का समर्थन करते हैं। सिद्धान्त विशेष को रोचक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए चाहे पौराणिक आख्यानों को विश्व रूप से अपनाने की आवश्यकता हुई हो, किन्तु फिर भी उन में प्राण-धारा कर्मण्यशील, जागरूक भारत की है। साकेत में अन्तिम आरती राम के राज्याभिषेक पर नहीं, वरन् लक्ष्मण के आदर्श सिद्धान्त की सफलता के अवसर पर होती है। लक्ष्मण कहते भी हैं—

अलक्ष्य की बात अलक्ष्य जाने

समक्ष को ही हम क्यों न मानें···इस कर्मण्यता को पंचवटी में दिखाया गया है। "साकेत" की सीता इस कर्मण्यता

के कारण उस मानव-भूमि पर आ टिकती हैं जहाँ कि राजा-रानी, ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं रह जाता। वरन् स्वच्छन्द वातावरण में अपने ही पैरों खड़े होने की शक्ति आप आ जाती है। वह साधारण कृषक-कुमारी की भाँति गीत गाती हुई नजर आती हैं। जायसी ने जिस दिन नागमती को एक साधारण कृषक-कुमारी की भाँति चित्रित किया था उस दिन आलोचकों को आपत्ति हुई थी कि रानी टूटी छानी में रहेगी? लेकिन गांधीवाद के आन्दोलन के व्यापक होने से, काम करने से यह भावना बहुत कुछ दूर हो गई और साधारण स्त्री की भाँति सीता को परिश्रम करते देख अस्वाभाविकता नजर नहीं आई। स्वयं सीता का दृष्टिकोण भी बदला हुआ-सा दिखाई देता है, जिस में वह अपनी कुटी में ही मनभाया राजभवन पाती हैं, अपना काम अपने आप करती हुई सुख का अनुभव करती हैं। ये उस व्यक्ति के हृदय की भावनाएँ हैं जिस ने कभी ऐशो-आराम का जीवन बिताया है और उस में ही जीवन की सार्थकता समझी है, लेकिन समय के प्रवाह ने जिसे समझा दिया हो कि कल्पना के स्वर्ग लोक में विचरण करना ही सब कुछ नहीं है, जीवन भोग ही केवल नहीं, कर्त्तव्य भी है—वह कर्त्तव्य जिस में समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान होता है, जो त्याग और तपस्या से भावों को सार्वभौम आकर्षण की वस्तु बना देता है। ऐसे व्यक्ति को वैभव के दिनों की याद यद्यपि बनी ही रहती है लेकिन फिर भी नई चेतना में जो शान्ति, जो संतोष होता है वह उस वैभव की स्मृति से कहीं कोमल, कहीं शीतल और कहीं अधिक गम्भीर होता है। सीता का संतोष इसी प्रकार का है। राजभवन में किसी सुख की, किसी वैभव की, किसी साधन की उसे कमी नहीं थी किन्तु यह सब होते हुए भी

उस का अपना क्या था ? वह दूसरों के हाथ पलती थी। राम का भी स्वच्छन्द साहचर्य सम्भवतः उसे न प्राप्त हुआ होगा। किन्तु वन में वह अपनी गृहस्थी को जगा हुआ देखती है। सब कुछ उस का अपना—बिल्कुल अपना है। स्वावलम्ब की यह भावना जीवन की अमृत संजीवनी है जिस के द्वारा आज का कवि ईश्वरत्व को पृथ्वी पर उतारने की बात करता हुआ भी, मनुष्य के ही पूर्ण विकास को ईश्वरत्व मानता है। 'स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया" यह केवल कथन मात्र नहीं है, 'साकेत में इस का व्यवहारिक रूप दिखलाया गया है। अवतारवाद का रंग अवश्य उस पर चढ़ा हुआ है, लेकिन शुद्ध-से शुद्ध रूप में यह भावना यदि कहीं दिखलाई देती है तो "द्वापर' अथवा 'नहुष' में। "नहुष" उस स्वर्ग से जहाँ केवल अमर ही अमर हैं, सुख-ही-सुख से शांति-ही-शांति है, उस पृथ्वी को कहीं अधिक महत्व देता है जहाँ कि अन्धकार और प्रकाश, विष और अमृत, मगंल और अमंगल, देवत्व और दानवत्व, सुख और दुख दोनों एक साथ हैं। इसीलिए वह कहता भी है—

ऊँचा रहे स्वर्ग नीचे भूमि को क्या टोटा है,
मस्तक से हृदय कभी क्या कुछ छोटा है ?

उत्थान और पतन दोनों से ही जीवन का महत्व बढ़ती है। केवल एक रूपता आकर्षण की वस्तु नहीं हो सकता चाहे वह गतिशीलता में ही क्यों न हो। संघर्षपूर्ण जगत के बीच अपनी राह निकालता हुआ जो आगे बढ़ता है वह ही सजीव है। पतन, उत्थान का ही चिन्ह है। जो उठेगा ही नहीं वह गिरेगा क्या ? और जो गिरता है वह उठने की भी चाह करता है। नहुष इस बात को सदैव ध्यान में रखता है।

"पंचवटी" के लक्ष्मण इसी बात पर ध्यान देते हुए कहते हैं कि दुख के दिन चले जावेंगे लेकिन इन से मिली हुई सहन-शक्ति बनी रह जावेगी। कैकेयी का चरित्र-पतन और उत्थान की ही कहानी है। वैभव और ऐश्वर्य, चाहे स्वर्ग का ही वह क्यों न हो, मनुष्य की आँखों पर पर्दा डाल देता है। इस क्षेत्र में आकर अहंकारवादी हो जाता है और उसी क्षण उस का जीवन "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" न होकर एक प्रकार से अपने ही लिए हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में उस के पतन का सूत्रपात होता है। चेतना सम्पन्न होने के कारण जो अपनी भूल को समझ लेता है वह भूल करने पर भी आगे बढ़ता है। और अपना सुधार करता है किन्तु जिस चूक का सुधार नहीं होता है वह जीवन में हूक बन जाती है। जीवन के इस तथ्य को कल्पना और भावना दोनों क्षेत्रों में गुप्त जी ने दिखाया है। भावना के क्षेत्र में यह तथ्य जहाँ रहता है गुप्त जी की रचनाएँ वहाँ सुन्दर भावपूर्ण अवश्य हो जाती हैं लेकिन व्यवहारिक रूप की सी न होने से वे गिरी हुई असहाय-सी लगती हैं। कहीं-कहीं अस्वाभाविकता भी आ जाती है। बनाव-सजाव के कारण चाहे ऐसे स्थलों की अस्वाभाविकता की ओर ध्यान न जाय लेकिन पच्चीकारी से विश्राम मिलते ही बुद्धि कहने लगती है—यहाँ हृदय की आवश्यकता थी, सो है नहीं और यदि है भी तो अलकांर के भार में दबा हुई अपनी तकदीर के लिए रो रही है। 'साकेत' के नवम-सर्ग में ऐसे स्थलों की कमी नहीं। उर्मिला की विरह-वेदना अनेक स्थानों पर इसी ढंग की हो चली है। मुझे तो नवम सर्ग का बहुत सुन्दर समझा जाने वाला गीत "वेदने तू भी भली बनी' इसी तरह का लगता है। वह विलाप, वह हृदय का हाहाकार, विलाप अथवा हाहाकार नहीं जिसे

हृदयंगम करने के लिए अलंकारों के आवरण को खोलने की आवश्यकता हो। उसे हम और चाहे जो कुछ कह लें लेकिन तीव्रतम भावना की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। भावनाएँ गुप्त जी में कुछ समय के लिए अपने स्वाभाविक सहज रूप में सामने आती हैं किन्तु अलंकारों के पीछे छिपी हुई, टेढ़ी उक्तियों को देखते ही वे गायब हो जाती हैं। इसे चाहे गुप्त जी की दुर्बलता न कह कर उन की विशेषता कह लीजिए। प्रयत्न-प्रसूत कवि की कला-साधना में यह पच्चीकारी क्षम्य है। गुप्त जी को अपनी इस दुर्बलता का ध्यान न हो सो भी बात नहीं है। "साकेत' के नवम सर्ग के आरम्भ में उन्हों ने जो—

विफल जीवन व्यर्थ वहा-वहा, सरस दो पद भी न हुए अहा,
कठिन है कविते ! तव भूमि ही पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।

कहा है उस में केवल दैन्य-मात्र नहीं बल्कि गुप्त जी की रचना की एक सच्ची आलोचना भी है लेकिन—'पीछे आने वालों का आगे-आगे चलने वाला जय-जयकार' कवि अपने को जो समझता है, वह अपनी दुर्बलताओं से उदासीन हो ऐसा नहीं हो सकता। प्राचीन परंपरा को गुप्त जी यद्यपि अपनाते हैं और सरल जीवन के प्रति नए जीवन के विरोध में उन का मोह—

परिवर्तन ही यदि उन्नति है, तो हम बढ़ते जाते हैं।
किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे पूर्व भाव ही भाते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में लक्षित होता है तो वर्तमान् की महत्ता समझाते हुए वे "द्वापर" में कहते हैं—

जीर्ण वस्तुओं की ममता से घर ही घूड़ा होगा।
अहा ! आज का कुसुम हार भी, कल का कूड़ा होगा॥

इस के साथ-ही-साथ समय के उपयोगी प्रवाह के साथ बहना गुप्त जी सदैव हितकर समझते हैं। उस कलावाद के वे समर्थक नहीं जिस का एक पाँव उपयोगितावाद की दृढ़ भूमि पर न टिका हो। उन फूलों से उन्हें मोह नहीं जिन में रूप ही रूप है, स्वाभाविक गुण-गन्ध नहीं। फूलों को भी वे आराम के समय की सामग्री समझते हैं। वर्तमान भारत की आवश्यकताओं को देखते हुए उन्हें चटकीले रङ्गीन सुगन्धित फूलों से कहीं अच्छे वे फल लगते हैं जिन से कम-से-कम भूखे भारत का पेट तो भरता है। समाज-व्यवस्था, राजनीति, अर्थ-नीति, कला, कविता, संगीत सभी में उपयोगितावाद गुप्त जी चाहते हैं। भारत की समस्याएँ प्रति क्षण इस तीव्रता से उन के हृदय में चुभती रहती हैं कि सार्वभौम भावनाओं के क्षेत्र में पहुँचते हुए भी वे उन से मुक्त नहीं हो पाते। इस क्षेत्र में सम्भवतः सब से आगे बढ़ा हुआ यदि कोई ऐसा कवि हिन्दी-साहित्य में दिखलाई देता है जो सार्वभौम भावनाओं को एक ही तन्मयता, एक ही दृढ़ता और एक गहराई के साथ अपनाता रहा हो तो वह था "प्रसाद"। विभिन्नता होते हुए भी "गुप्त और प्रसाद" बहुत दूर तक कन्धे से कन्धा मिलाए चलते हैं किन्तु सार्वभौम भावना की सीमा पर पहुँचते ही "गुप्त" जी तो थके-माँदे पथिक की भाँति विश्राम लेने लगते हैं और "प्रसाद" में वायुयान की वेग-गति आ जाती है।

"गुप्त" जी अपनी कविताओं की साहित्यिकता के लिए जीवित रहें न रहें लेकिन अपनी रचनाओं में कृत्रिमता की परम्परा को अक्षुण्य बनाए रखने के लिए वे सदैव अमर रहेंगे।

१३—रसनायक कृत 'विरह-विलास'

भक्ति की परंपरा भारतीय साहित्य में जब से आई तब से योग-परंपरा से मोर्चा लेने की चिन्ता उसे हमेशा रही, और वास्तविक तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन, जो इन दो धाराओं के अनुयाइयों को करने पड़ते थे, उन की वाणियों तथा साहित्य में सहज ही स्थान पाने लगे। एक ऐसा भी समय आया कि हर एक कवि तथा भक्त इस समस्या के प्रति कुछ कहे बिना चलता ही न था। इस संघर्ष में भाग लेना वह अपना परम कर्तव्य समझता था।

सिद्धों ने अपनी सांध्य भाषा में जिस विरोध को उठाया था वह संसार से विरक्ति उत्पन्न करने का समर्थक था। नाथों ने उसे आध्यात्मिकता का बल दिया। निर्गुणी कहे जाने वाले संतों ने उसे दार्शनिक तेज की सत्य-निष्ठा दी, रहस्य भावना के प्रेमियों ने उसे अनुराग के रंग में रंग में रँगाया और वैष्णव-भक्ति के कवियों ने उसे राम तथा कृष्ण की कथाओं के बीच निभा कर लोक के ऐश्वर्य से उसे संपन्न किया, तो राष्ट्रीय भावनाओं के युग में राष्ट्रीयता का पानी उस पर चढ़ गया।

कृष्ण-साहित्य में भागवत की परंपरा जब से आई तब से भ्रमर गीत प्रसंग कवियों के लिए काव्य का एक प्रिय विषय रहा है। विद्यापति, सूरदास, अग्रदास, जनमुकुंद, रसखान, प्राणा, घनानंद और भारतेंदु से लेकर रत्नाकर, हरिऔध, मैथिलीशरण औ विन्दु-ब्रह्मचारी तक अनेक कवियों ने इस विषय कर कुछ न कुछ लिखा है। सूरदास, जनमुकुंद, और रत्नाकर के भ्रमर गीतों ने खूब ख्याति पाई है। किन्तु कितने

ही सुन्दर भ्रमरगीत अज्ञात के गर्भ में छिपे हैं और जो प्रकाश में आए भी हैं उन का विशेष प्रचार कुछ इस लिए भी नहीं हुआ है कि विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में वे नहीं पढ़ाए जाते हैं, और पढ़ाए भी जाते है तो आज का युवक वर्तमान युग के काव्य को 'पुराने गढ़े मुर्दों को उखाड़ने' से अधिक महत्त्व नहीं देता है। किन्तु इसी से प्राचीन काव्य को सुरक्षित रखने की और भी अधिक आवश्यकता हो जाती है। अपनी निधि को केवल समय के बहाव में बह कर ही उपेक्षित दृष्टि से देखना उचित नहीं है।

सूरदास ने अनेक गेय पदों में भ्रमर-गीत लिखे हैं, जिन-में तीन भिन्न शैलियों के रूप तो हैं ही, किंतु दुहराव और विस्तार भी पर्याप्त है। जनमुकुंद ने आवश्यक ही विस्तार रक्खा है, जिस से परिष्कृत लघुत्व ने उन के भ्रमर-गीत को कला की वस्तु बना दिया है, जिस में वनस्थली नहीं, सजीसँवारी वाटिका के दर्शन होते हैं। दोहा और रोला के संमिश्रण को टेक दे कर संगीत की मधुर चित्रावली ही तैयार कर दी है। इस शैली की प्रियता को कविरत्न और विन्दु ने अपने युग के अनुकूल अपनाया। रसखान, घनानंद, भारतेन्दु, और रत्नाकर ने कवित्त सवैया शैली अपनाई, हरिऔध ने संस्कृ वर्ण-वृत्तों की मिठास इस में भरी और गुप्त जी ने नाना-विधि हिन्दी छंदों की। किन्तु ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्हों ने दोहा-चौपाई अथवा दोहा-कवित्त की शैली में इस विषय को लिखा है। दोहा-चौपाई शैली में प्रागण और क्षेमकरण मिश्र आदि ने इस विषय को लिखा है। रस-नायक ने दोहा-कवित्त शैली को अपनाया है और विषय-विस्तार की दृष्टि से उन्हों ने भावनाओं का जल सूरदास के

सागर से लिया है। इस लिए परिमार्जित ढंग से रसनायक का भ्रमरगीत 'विरह-विलास' बन कर हमारे सम्मुख आता है। मूल भाव कवि पहले तो एक दोहे में सम्मुख रखता है और फिर वहीं उस का विकास, कवित्त अथवा सवैयों में करता है। इस प्रकार की शैली में ही रसनायक ने 'विरह विलास' समाप्त किया है। इस ग्रंथ की वस्तु-सामग्री संक्षेप में इस प्रकार है:

ग्रंथ के आरंभ में रस के नायक कृष्ण की वंदना कवि ने की है, ताकि बुद्धि को प्रकाशित करने वाली वह वाणी उसे प्राप्त हो जो चित्त को स्थिरता देकर; 'विरहविलास' को निर्विघ्न समाप्त करने में सहायक होगी।—

रसनायक वरदान दै, बुद्धि प्रकाश।
सुचित रचों तातें यहै, ग्रंथ जु 'विरस विलास'।

इस के बाद गोपियों के आधार, राधा के प्राण, कृष्ण के रूप का वर्णन कर के कवि आगे बढ़ता है:

गोकुल जाते हुए मधुकर (उद्धव) को चतुर जान कर कृष्ण ने उस से कहा—गोपियों को निर्गुण में दृढ़ करने जा रहे हो। ग्वाल-बालों से मिलना और नंद बाबा से कहना कि इतने निष्ठुर क्यों हो गये हैं, आज तक कोई ख़बर भी न ली। माता से कहना—मुझे वेणु की बार-बार याद आती है। सावधानी से उसे सँभालना, कहीं राधिका उसे न चुरा ले।

मैया सों जतैयो राधे वेनु न चुरावै कहूं
मोहि सुधि आवै या की सावधानी रखियो।

उद्धव गोकुल पहुँचते हैं। गोपियाँ उद्धव को गोकुल में देख कुशल संदेश बूझती हैं:

....कहौ जू,

कुसल छेम मथुरा चहलु है।

जीवनि हमारी बलि मोहन कुसुल दोऊ

वसुदेव देवकी के आनँद अमलु है।

कुसल अक्रूर रसनायक कुसल और

मधुवन मानिनी जे मानियँ सकलु है।

रानी अधिरानी महरानी पटरानी वह

नई ठकुरानी कहौ कुबिजा कुसलु है।

इस पर उद्धव कहते हैं—'रसनायक' (कृष्ण) तो सदैव ही कुशल से रहते हैं, उन की बातें क्या बूझती हो, ब्रह्म-ज्ञान की बातें सुनो। 'ध्यानावस्थित' होने से मुक्ति मिलेगी....जटा बँधावो, कानों में कुंडल पहनो, मुख से शृंगी नाद करो, वेदों की उक्ति गावो। बकवाद छोड़ अब निर्गुण-स्वाद चखने के लिए जोग की जुगत सीखो—

अलख निरंजन ध्यान धरि, नृगुन ग्यान उर धरि।
जोग जुगति सिषवहुँ अबै, सीषौ सब ब्रजनारि॥

कुसल सदा ही रसनायक विरजे तहाँ

बूझत कहा हौ बात सुनिए सुकत कों।

गाननि विभूति नीकी छजि है रमा बोले

ध्यान हू लगावौ जब पावौगी मुकति कौ।

जटनि बधावौ स्रौंन मुदरा बनावौ मुह

सींगी को बजावौ गावौ वेद की उकति कों।

छांड़ि बकवादें नेकु निगुन सवदें चाषि

सीषौ ब्रज-वधू येऽन जोग की जुगत को॥

गोपियाँ इस प्रस्ताव को सुन कर बिगड़ खड़ी होती हैं और आड़े हाथों उद्धव की खबर लेती हैं। कहती हैं—

सनक तो नहीं तुम्हें सवार हुई, कृष्ण को द्वारिका में बसते तुम बतलाते हो किन्तु वे रसनायक तो अन्यत्र कहीं नहीं व्रज में ही बसते हैं। हमारे रोम-रोम में वे रमे हैं। तुम भस्म रमाने की बात कहते हो—जिस दिन से कृष्ण द्वारिका गए उन के विरह में उसी दिन से हम जल कर खाक (खाक, भस्म) हो गई हैं। फिर अंधे को अंजन, बूचे को झूमक, नकटे को बेसर, मुडिये की पाटी (केश-पट्ट), कोढ़ी की केशर (का लेप) और बहरे को राग कहाँ छजते हैं। जोग, काशी में ही शोभा दे सकता है, अहीरों की नारियाँ जोग के लायक नहीं।

बचपन से ही जिस के प्रेम में पड़ चुकी हैं उस के नेह को कैसे छोड़ सकती हैं। प्रेम के अमृत को ही जिन्हों ने जन्म से चखा है वे जोग जहर को क्यों पीने लगीं? हमारे लिए जोग लाए हो, भोग कुब्जा को दे आए। जोग को छोड़ कर ऐसी विधि क्यों नहीं बताते जिस से माधव मिलें।

और कृष्ण अब भी न मिलें, तो भी विशेष दुःख नहीं वे गोपीनाथ के नाम से जगत में प्रसिद्ध हो ही चुके हैं, हम हम लोग नायक की नायिका के रूप में। और किसी बात का तो हमें दुःख नहीं, पर दुःख इसी बात का है कि गोपीनाथ हो कर भी वे गोपियों को रोती छोड़ कर चले गए और उन्हों ने सुधि तक भुला दी है—

सोच न हमें हैं गुन औगुन किये की कछू
सोच न हमें हैं दधि माखन उजारे कौ,
सोच न हमें हैं रसनायक अमोही भये
सोच न हमें हैं कछु मथुरा सिधारे कौ,

सोच न हमें हैं कीनी कुबिजा भले ही प्यारी
सोच न हमें हैं जोग ग्यांन द्रिढ़ धारे कौ ,
गोपीनाथ बाजि गोपीं रोवत हीं छाँड़ो ता को
सोच है हमारे ऊधो विरद विसारे कौ ॥

तुम जोग का व्यापार करने आए हो, टोटा ही तुम्हें रहेगा। जिन्हों ने अपने हाथों हमारी वेणियाँ गूथी थीं, जिन्हों ने कुंकुम अपने हाथों से हमारे स्तनों पर चर्चित किया था, उन कृष्ण ने कभी यह संदेशा नहीं भेजा होगा। तुम भूल में तो नहीं आ गए! जिस मुक्ति को उन्हों ने भेजा उसे हम ने सिर-माथे लिया, अब खुशी से तुम्हें लौटाती हैं, जिस समय जरूरत होगी माँग लेंगी अभी जतन से सँभाल के इसे रक्खो। कुबरी ने कृष्ण को हम से छीन, चाम के दाम चलाया है। अच्छा नाम कान्ह ने कमाया। कान्ह महाराज, गोपियों के लिए जोग भेजा है तब राज डूबेगा क्यों नहीं!

महरानी कुबिजा करी, कान्ह भये महराज।
पठयौ गोपिन जोग अलि, क्यों न बूड़ि है राज॥

काले रंग वाले कपटी होते हैं। विश्वास उन का किया नहीं जा सकता। कोयल कौवा को धोखा देती है। नागिन अपने ही बच्चों को खा जाती है। रसनायक-कृष्ण का कुछ ऐसा ही व्यवहार देखा जा रहा है। अब तुम आए हो, बाबा! ऐसे लोगों से दूर ही की राम-राम भली!

कारन की कहाँ जाति अलि, कपटे बड़े निदांन।
तिन हीं क्यों जु पतीजिये, दूरहि की कुसलाँन॥

इस प्रकार की बातें करने वाली गोपियाँ जब उद्धव की

योग की बातें सुन कर अत्यंत दुःखी हो जाती हैं तो बरबस उन के मुख से शाप निकल पड़ता है—

जीवत न जै है ब्रज त्यों ही तू बिलै है
या तें भूलि हू न ऐयौ फिरि गोपिन को जौग लै।

और कहती हैं—उद्धव तुम बचे रहना चाहते हो तो अपना रास्ता लो।

राधिका पत्र लिखती है, अब मान न करूँगी, तुम मनमानी करना। ब्रज तुम बिना सूना है। गोकुल को बसाने क्यों नहीं आते?

राधिका अपना संदेशा भेजती हैं, गोपियाँ अपना; जसोदा भी संदेशा भेजती है। किन्तु फिर कहती है, 'उद्धव तुम अब कहाँ मथुरा और द्वारिका जाते हो, ब्रज में बस कर हमीं जैसे वन जन्म सफल क्यों नहीं करते?'

किन्तु उद्धव द्वारिका चले ही आते हैं। ब्रज की सारी कथा तथा आप बीती सुनाते हैं। 'मैं तुम्हारी कृपा से बच कर आया हूं। विरह की ज्वालाओं में ही भस्म हो गया होता आँखों के नीर ने जो उसे बुझा न दिया होता। निर्गुण योग सिखाने का प्रयत्न किया था, किन्तु वहाँ दुःख समुद्र में सब डूबे हुए थे, कौन सुनता। हार मान कर ग्लानि से भरा लौट आया हूं। सारे ब्रज की जो दशा मैं ने देखी वह तीन लोक में कहीं न सुनी न देखी। रात-दिन यहाँ के लोगों के दिन तुम्हारी लीलाएँ करते ही बीतते हैं। वे भाग्यवान् हैं, शोक भरा मैं अभागा उन में से चला आया हूं।'

वे बड़भागिन ब्रज बधू, ब्रज जीवन जिन लोग।
तिन मधि तें कढ़िगौ सु हौं, निरभागी यह सोग॥

जैसे कछू ब्रजवासी लषे फिरि तैसे न देषे कहूं अनुरागी।
प्रेम कहा उन कौ कहिये रसनायक रावरे रंग ही पागी।
मोहि न बूझौ कछू उत की इत आयौ ये हा हा वही जक लागी।
वे वड़भागिनी बीचहिं तें इक हों ही सुनों कढ़िगौं निरभागी॥

कृष्ण अब कहते हैं, 'उद्धव ब्रज को मैं भूल नहीं सकता।' और धीरे-धीरे एक-एक स्मृति का ब्यौरा देते हैं।

"स्वर्ण की इस पुरी द्वारिका में मेरा मन नहीं लगता। आठ सौ राजकुमारियाँ ब्याही हैं, पर गोपियों का प्रेम अलग छिटक रहा है। द्वारिका में रहने पर भी मेरे प्राण ब्रज में ही रहते हैं।

सुनि ऊधो ब्रज-जनन की, मो सुधि बिसरत नांहि।
सदा रहत जिय जानि हो, निसि दिन उनही मांहि॥

कुंजन की छांह चारु जमुना कौ तीर वह,
ग्वालिन की भीर संग गोधन कौ चारिबौ।
बाबा नंद जू कौ प्यार मैया को जिमावन
त्यों बाँसरी छिनाय वह राधा कौ निहारिबौ।
रास रह केलि रसनायक रमांई गेऽब
प्रेम चतुराई बहु गोपिनु चितारिबौ।
नेह नियरांई सब भांतिन सुहाई सोऽब
मोहि क्यों बनत उधौ ब्रज कौ बिसारिबौ॥

या कंचन की द्वारिका, कौन काज की जांन।
ऊधौ घर माटीन के, वा ब्रज मेरे प्रान॥

कंचनपुरी में चित लागत न मेरों नेंकु,
माटी के आवास वे ही सुष के निधान हैं।
आठ सत रानी सु तौ राजन की ब्याही
तौऊ मोंहि वे अहीरी अति लागत सुजान हैं।

सोने के अनेक थार भोजन के काज, तौऊ
भावत उह में तौ वे ही ढाक के पान हैं।
ये ही उनमान जिय जानि लै निदान अैपें,
देही द्वारिका में उधौ ब्रज में ही प्रान हैं॥

इस पर उद्धव कहते हैं—गोपियों का व्यवहार देख कर मैं इतना रीझ गया कि अब मुझे खुद अपने ऊपर शर्म आती है। अब मेरे पाँव गोकुल को नहीं बढ़ते। आप किसी और चतुर व्यक्ति को भेज कर उन्हें यहीं क्यों नहीं बुला लेते, मैं तो अब यहीं आप के चरणों की सेवा में पड़ा रहना चाहता हूं। इसी भाँति जीवन बीत जाय, यही अब जीवन की साध है।

हों रीझ्यो जु बिलोकि ब्रज, गोपिन को व्यौहार।
परत न पग अब गोकुलहि, मेरे नंद कुंवार॥

अब न पतैहों जैहों जीवत न गोकुल हीं
दीन हों तिहारो पीज करौ जिन चौगुनी।
मोहू सौ चतुर कांहूं और ही पठाय नाथ
गोपिन बुलाय अब कीजै क्यों न जोगिनी।

हों अब नाथ बचि आयगौ, ब्रज कढ़ि के ब्रजराज।
चरन लहें चाँपत रहों सरन गहे की लाज॥

इस प्रकार ग्रंथ की मुख्य कथा की समाप्ति होती है और उस के बाद 'ग्रंथ फल स्तुति' रचनाकाल दिया गया है। कवि का परिचय और लिपिकाल, अपना परिचय, ग्रंथ प्रतिलिपि का स्थान तथा समय दे कर ग्रंथ समाप्त होता है।

कलपतरो वर कामना, पूरत जाचक आस।
जो चहियत सो देत यह, ग्रंथ जु विरहविलास॥

बिरह-बिलास रसनायक अनूप यह,
कामना कलपतरु गोपिनु कौं नेमु है।

ज्ञानिनि कों ज्ञान गुनवाननि विसेस गुन
चातुर कों चोज देत मूढ़न कों फेमु है।
भाविक कों भाव-धन, जावक अपार देत
भक्तनि को, मुक्ति छवि ही कौ भस्यौ छेमु है।
रोचक रसिक ही कों, मोचक हमारे अघ
नेहिनि को नेह देत, प्रेमिनि कों पेमु है॥

प्रेम नेम गोपीन कौ, विधि सो विरचि बषान।
समुझि सार यह बाचियौ, चारु विचार सुजान॥

गोपिन कौ प्रेम नेम सब ही बषान छवि करि,
विधि सों बिरचि छंद छवि कौ निवासु है।
ऊधौ प्रतिऊतरु त्यौं झगरौ जितेक आदि
नेह कौ नतीजौ रसनायक प्रकासु है।
भागवत लेष गीत भँवर बरोबर हीं
मति अनुसार ग्रंथ रच्यौ रस रासु है,।
बाँचियौ विचार या में रसु है अपार,
रिझवार कौ सिंगार यह विरह विलासु॥

भँवरगीत ता की कथा, मति अनुसार बनाय।
भूल-चूक सब सोधियौ, सुकविन के समुदाय॥
अष्टादस जु बहत्तरा, संवत सावन मास।
सोमवार सुदि तीज सुभ, प्रकट्यौं विरह विलास॥

इत श्रीमत्काम्यवनस्थ वाधूलसगोत्रोत्पन्न गणेश भट्टात्मज रसनायक विरचित भ्रमरगीतानुसार उद्धव-गोपिनु संवादे 'विरह विलास' ग्रंम संपूर्णम्।

श्री कृष्ण प्रसंनोस्तु

लिखितिम् यं पुस्तक भट्ट गंगाविष्णु, भट्ट गिरधारीलाल

सुत भरतपुर मध्ये :। मिती पौस कृष्ण २ भौमवार संवत १८७२ शुभं भवतु ।

'विरह-विलास' को भागवत के भँवर गीत के अनुसार यथामति विधिपूर्वक रचा गया है। छंद-छवि का निवास वह है, अनेक रस उस में पाए जाते है। ग्रंथ को कवि ने पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभक्त किया हैं। पूर्वार्द्ध में एक सौ चवालीस[1] पद्य हैं और उत्तरार्द्ध में साठ[2]। पूर्वार्द्ध में उद्धव का गोकुल आना तथा निर्गुण उपदेश देना और गोपियों का उस का प्रतिवाद करना वर्णित है। उत्तरार्द्ध में उद्धव के हाथ सँदेसे भेजे गए हैं। वे द्वारिका जा कर कृष्ण को सारी यथा-कथा सुनाते हैं और अपनी हीनता समझ गोकुल जाने का नाम नहीं लेते। वरन् कृष्ण के चरणों में ही रह कर वहीं जीवन बिताते हैं।

ग्रंथ के अंतिम अंश से तह स्पष्ट हैं कि बधूल गोत्र के गणेश भट्ट के घर रसनायक पैदा हुए थे और कामवन भरतपुर के रहने वाले थे। संवत् १८७२ के सावन के महीने सोमवार तीज सुदि को 'विरह-विलास, प्रकास में आया (समाप्त हुआ) और इन्हीं के वंशज संभवतः चचेरे भाई गंगाविष्णु भट्ट ने जो कि गिरधारीलाल के पुत्र थे। 'विरह विलास' के रचे जाने के पाँच ही महीने बाद भौमवार मिती ३ कृष्णपक्ष पौष माह (संवत् १८७२) में ही उस ग्रंथ की प्रतिलिपि भी कर डाल थी।

'विरह-विलास' के समय यदि रसनायक की अवस्था चालीस वर्ष की मान ली जाय तो उन का जन्म संवत् १८३० के आसपास होना चाहिए।

---

१ बहत्तर दोहे+बावन कवित्त+बीस सवैये=एक सौ चवालीस कुल।

२ इकतीस दोहे+बीस कवित्त+नौ सवैये=साठ कुल।

'मिश्र-बंधु-विनोद' में रसनायक का नाम आता है। इस कवि के विषय में 'शिवसिंह सरोज' (१९२६ संस्करण पृष्ठ ४८२ संख्या) में लिखा है—

"रसनायक तालिब अली बिलग्रामी संवत् १८०३ में उ०, शृंगार के अच्छे कवित्त हैं।"

और पृ० २८४ पर रसनायक की कविता के उदाहरण-स्वरूप यह कवित्त दिया गया है, जो कि थोड़ा-बहुत अंतर के साथ 'रागरत्नाकर', 'भक्त रसखान' और 'रसखान और उन का काव्य' (इस अंतिम पुस्तक में चंद्रशेखर पांडेय जी ने रसनायक को बड़ी होशियारी से रसखान बना डालने का चमत्कार दिखाया है) में भी विद्यमान है।

तट[1] की न घट भरें,[2] मग की न पग धरें
घर की न कछू करें बैठी[3] भरें साँसु री।
एकै सुनि[4] लोटि गई, एकै लोट-पोट भई
एकन के दृग ते निकसि[5] आये आँसु री।
कहै रसनायक सो ब्रज वनितान वधि
वधिक कहाय[6] हाय भयो कुल हाँसु[7] री।
करिये उपाय बाँस डारियै कटाय नाहिं
उपजैगो बाँस नाहीं[8] बाजै फेरि बाँसुरी।

'रसनायक' नाम चाहे तालिब अली बिलग्रामी का रहा हो न रहा हो, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में इस नाम के कृष्ण-काव्य के एक कवि भरतपुर में अवश्य विद्यमान थे और 'विरह विलास' उन की सुंदर रचना आज उपलब्ध है।

पाठभेद—रागरत्नाकर :—

[1] जल। [2] भरैं। [3] वैठि। [4] सुन। [5] दृगन निकस। [6] कहाये। [7] हाँस। [8] नहिं।

१४—चिन्तामणि-मतिराम-भूषण

चिन्तामणि, दरबारी कवियों के अंतर्गत आते हैं। उन का काव्य शृंगारी परंपरा का है। यशः काव्य भी उन्हों ने किया है। केशव की चमत्कारी अलंकार परंपरा को न अपना कर संस्कृत-साहित्य की रस परंपरा को उन्हों ने अपनाया। संस्कृत के वे पंडित थे। कवित विचार, काव्य प्रकाश, काव्य विवेक, रामायण कवित, कवि कुल कल्प तरु (१६५० ई०) आदि उन की रचानाएँ है। चिन्तामणि की कविता में सरलता है।

१ ओढे नील सारी-घन घटा कारी चिन्तामनि
कुचन किनारी चारु चपला सोहाई है,
इन्द्र बधू जुगनू जवाहिर की जगै ज्योति
बक मुकतान माल कै सी छवि छाई है;
नील पीत श्वेत बर बादर बसन तन,
बोलत सु भृंगी ध्वनि नूपुर बजाई है,
देखिवे को मोहन नवल नट नागर को
बरषा नवेली अलवेली बनि आई है।

२ प्रबल प्रचंड महा बाहु बाबू रुद्रसाहि
तो सों बैर रचत बचत खलकत हैं,
गहि कर वाल काटि काढ़त दुवन-दल
सोनित-समुद्र छिति पर छलकत हैं;
चिन्तामनि भनत भखत भूत-गन मास,
मेद गूद गीदर औ, गीध गलकत हैं,

फाटे करि कुंभन में मोती दमकत मानौ
कारे लाल बादल में तारे झलकत हैं।

३ तनै छत्रसाल के हठीले हाड़ा भाउसिंह,
रावरे गयंद बरनत कवि भटकैं,
कीच मचै मेदिनी में, मद चुवै धारनि में,
नगन उखारि पारावार पाटि पटकैं,
कहै कवि चिन्तामनि बाढ़े ठाढ़े विंध्य सम
आड़ैं आसमान में विमान गन अटकैं,
जा को भय मानि चलैं बाएँ-दाएँ मारतंड,
मति सुंडा दंड सों पकरि रथ झटकैं।

४ गज बकसत महाराज राम राज तिन्हैं,
पहुँचे जलद नहीं उपमा अखंड में,
वे तो चिन्तामनि जलनिधि तें जलद होत,
जलनिधि जात ह्वाँ समाय सुंडा दंड में,
मद-जल झरनि भरत फेरि जलनिधि,
जलद उड़ात सुंड-बात परचंड में,
धरा धसकाइ पाँइ छुअत पताल और
अंग ककुभानि कुंभ लागे ब्रह्मंड में।

५ गाढ़े-गाढ़े गढ़ गज धक्कन ढहावत, न
पावत प्रताप-सम ताहि सक्क अक्कवै;
चिन्तामनि भनत गनत घने गुनगन,
सारदा, गनेश, शेष थक्कत अथक्कवै,
नीरधि ज्यों महिमा गँभीर, महाधीर, बीर
पावक प्रताप छीर-छीरधि को पक्कवै,
थप्पन उथप्पन समत्थ पातसाहन को,
साहू नरनाह चहूं चक्कन को चक्कवै!

वाबू रुद्रसाह, छत्रशाल हाड़ा, के पुत्र भाउसिंह हाड़ा, शाहू जी के अभिभावक राजाराम और स्वयं साहू की प्रशंसा ऊपर के कवित्तों में हैं। ये लोग चिन्तामणि के आश्रयदाता थे। इन के अलावा औरंगजेब, शाहजहाँ, मकरंद शाह भोंसला और जैनंद अहमद के यहाँ भी चिन्तामणि रहे। मतिराम ने अपने को 'चिन्तामणि चरण चंचरीक' लिखा है। मतिराम इन के भाई माने जाते हैं। अतएव मतिराम के बड़े भाई चिन्तामणि थे।

(२)

मतिराम, तिकवाँपुर (त्रिविक्रमपुर) जिला कानपुर के रहने वाले रतिनाथ अथवा रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे। मति राम के पुत्र जगन्नाथ त्रिपाठी हुए। राजस्थान के चारण सूर्य्य मल ने भ्रमवश अपने वंश भास्कर (रचना १८४० ई०) में भूषण को वड़ा भाई, मतिराम को मँझला और चिन्तामणि को कानसा भाई बताया है—"जेठो भ्रात भूषण रु मध्य मतिराम, तीजो चिन्तामणि विदित भये ये कविता प्रबीन। जहाँगीर (१६०५ ई० १६२७ ई०) के हुकुम से फूल मंजरी रचने वाले भी कोई मतिराम थे—'हुकुम पाय जहाँगीर को, नगर आगरे धाम, फूलन की माला करी, मति सों कवि मतिराम।' ये कोई अन्य मतिराम होने चाहियें। चिन्तामणि के भाई मतिराम कई राजाओं के आश्रय में रहे। बूँदी नरेश भावसिंह के आश्रय में ललित ललाम की रचना उन्हों ने की। सतसई राजा भोगनाथ को अर्पित की और अलंकार चन्द्रिका तथा छंदसार पिंगल रचनाएँ क्रमशः कुमायूं नरेश उद्योतचन्द के पुत्र ज्ञानचन्द तथा गढ़वाल श्रीनगर नृपति फतेहशाह (राज्य १६६७ ई०—१७१७ ई०) को समर्पित कीं। शिवा जी, शंभा जी तथा छत्रसाल के यहाँ भी मतिराम रहे।

१ बान अरजुन को बषानै मतिराम कवि,
गदा भीमसेन की सदा ही जस काज की,
बासव को वज्र, वासुदेव जू को चक्र,
बलदेव को मुसल सदा कीरति है लाज की,
दंड दंडधर को अदंडन को दंडिवे को,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की,
शंभु को त्रिसूल, संभु-सिष्य को कुठार
संभु-सुत की सकति समसेर सिवराज की।

२ कवि मतिराम कहै रति ते अनूप बनी
रूप धरे राजैं मानौ कोकन की कारिका,
धार सुने बार-बार नीर भरि आवतु है
नीरज-सी आँखिन नलिन ऐसी तारिका,
आगरे-दिली में छत्रसाल तेरी धाकनि तैं
आयो-आयो, बोलत मुखन सुक-सारिका,
चौंकि चलि सकैं न चरन जुगलनि लाल,
गुलनि के रंग, मुगुलनि की कुमारिका।

३ करन के, विक्रम के, भोज के प्रबंध सुनि
आछी भाँति कविन को आगो लीजियतु है।
कवि मतिराम मजलिस के सिंगार राज—
बचन-पियूष आठौं जाम पीजियतु है,
एक ही गुनाह नरनाह श्री उदोत चंद
एतो कहा कविन पै रोष दीजियतु है,
काहू मतवारे एक अंकुस न मान्यौ तौ
दुरद क्यों द्वारक तें दूरि कीजियतु है?

४ ऊधो जु सूखो विचार है धौं जु कछू समुझैं हम हूँ ब्रज वासी,
मानि हैं जो अनुरूप कहौ मतिराम भली यह बात प्रकासी,

जोग कहाँ मुनि लोगन जोग, कहाँ अवला मति है चपला-सी,
स्याम कहाँ अभिराम सरूप, सुरूप कहाँ वह कूबरी दासी !
५ कुंदन को रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई,
आँखिन मैं अलसानि, चितौनि मैं मंजु विलासनि की सरसाई,
को बिन मोल विकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई,
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।

मतिराम कलाकार कवि हैं। उन की कविता में विलक्षण सरसता है। अलंकारों के लक्षण सब जगह स्पष्ट नहीं है किन्तु उदाहरण कहीं कहीं बहुत सुंदर बन गये हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, दृष्टान्त, व्यतिरक, अपन्हुति, अतिशयोक्ति की सार्थक योजना उन्हों ने की है। अनुप्रास के पीछे पद्माकर की तरह दीवाने वे नहीं हुए। मुक्तक काव्य में तन्मयता जहाँ नहीं हैं वहाँ तन्मयता का अभाव मतिराम में खटकता है। शब्दों की तोड़ मरोड़ मतिराम ने नहीं की, सार्थक प्रयोग उन का किया है। उन की मँजी हुई परिमार्जित स्वच्छ ब्रजभाषा भाव के प्रदर्शन के योग्य है। संस्कृत कवियों के अनेक भाव को अपना कर भी कला की निपुणता के द्वारा उन भावों को अधिक विकसित परिमार्जित और परिपूर्ण रूप मतिराम ने दिया है। ललित ललाम, सतसई और रस राज, मतिराम की रचनाएँ हैं। सतसई में मतिराम की प्रतिभा खिली है किन्तु रसराज उन का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है।

३

भूषण एक प्रकार से पौराणिक संस्कृति रक्षक तुलसी की परंपरा के कवि हैं। तुलसी ने 'कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' तथा 'भगति हेतु विधि भवन विहाई, सुमिरत सारद आवति धाई,' 'राम-चरित-सर

विनु अन्हवाएँ, सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ' को विचारते हुए राम का यशोगान किया। शिवा जी (१६२७ ई०—१६८० ई०) को परब्रह्म का अवतार मानने वाले भूषण ने, जिन पर कि पुराणों और मानस का गहरा प्रभाव है, शिवा जी के पुण्य चरित्रों में स्नान करवा कर उस वाणी को फिर से पवित्र किया जिसे कलि के कविराजों (? जगन्नाथ पंडित इत्यादि) ने कलि के राजाओं का यशोगान कर अपवित्र कर दिया था—

> ब्रह्म के आनन ते निकसे ते अत्यंत पुनीत तिहूं पुर मानी,
> राम-युधिष्ठर ने बरने, बलमीकिहु-व्यास के अंग सुहानी,
> भूषन या कलि के कवि राजन, राजन के गुन गाय नसानी,
> पुन्य चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि वानी।

भूषण के समय तुलसी यदि होते तो वे भी शिव चरित्र ही लिखते रामचरित्र नहीं, अन्तर शायद इतना ही होता कि वे उस प्रबन्ध काव्य शैली में लिखते। और भूषण भी तुलसी के समय होते तो वे या तो कृष्ण-काव्य की ओर झुकते या प्रताप-चरित्र लिखते। हो सकता है भक्ति काव्य भी रचना कर लेते। भूषण को जिस तरह से शिवा जी अपने चरित नायक के लिये मिले वैसा व्यक्ति तुलसी को प्रताप में नहीं मिला। कृष्ण के जिस रूप की ओर उस समय संत, भक्त, कवि और आचार्य झुके हुए थे, व्यास के महा भारत के नहीं वरन् भागवत के कृष्ण वे थे, जिन में जयदेव, विद्यापति, चंडीदास, चैतन्य आदि ने शृंगार का विलासी रूप पहिले ही मिला दिया था। ऐसी स्थिति में पौराणिक तथा महाकाव्यों के धनुर्धर राम की ओर ही तुलसी का ध्यान गया। लोक पीड़क रावण से मोर्चा लेने वाले राम ने तुलसी के हृदय की श्रद्धा पाई। शिवा जी ने भूषण के हृदय में घर किया, कुछ इसलिए नहीं कि शिवा जी

औरंगजेब के शत्रु थे, वरन इस लिए कि औरंगजेब लोक पीड़क था और शिवा जी ने उस से मोर्चा ले कर लोक जीवन का त्रास दूर किया—

दारुन दइत हरनाकुश बिदारिवे को
भयो नरसिंह रूप तेज विकरार है,
भूषन भनत त्यों ही रावन के मारिवे को
रामचन्द्र भयो रघुकुल सरदार है,
कंस के कुटिल बल बंसन विधुंसिवे को,
भयो जदुराय बसुदेव को कुमार है,
पृथ्वी पुरहूत साहि के सपूत सिवराज
मलेच्छन को मारिवो को तेरो अवतार है ।
वेद राखे विदित पुरान राखे सार युत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर मैं,
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, वरदान राख्यो कर मैं,
राजन की हद्द राखी, तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यौ घर मैं ।

राष्ट्रीयता के युग में सांप्रदायिक प्रश्न की गहनता ने भूषण के साहित्य को भी सांप्रदायिक बतलाया। पर भूषण के समय में सत्ता मुगलों की थी अंगरेजों की नहीं। अंगरेजों के राज़ के कुतंत्र के प्रति विरोध के भावों को जगाने वाला साहित्य राष्ट्रीय यदि कहला सकता है तो भूषण में भी राष्ट्रीयता थी। इस देश की धन-जन—धरती से उन्हें वैसा ही अनुराग था जैसा 'सुजलाम् सुफलाम्' कहने वाले बंकिम चन्द्र, अथवा 'जन

मन गण रंजन' के गायक रवीन्द्रनाथ को। भूषण, सांप्रायिक कवि यदि हैं तो उन्नींसवीं बीसवी शताब्दी के वे सभी कवि भी सांप्रदायिक भावनाओं के ही कवि हैं जिन का साहित्य राष्ट्रीय कहलाता है, तब वे चाहे भारतेन्दु हों, चाहे जयशंकर प्रसाद अथवा दिन कर। भले और बुरे कर्मों की स्तुति-निन्दा करना सांप्रदायिक होता नहीं है। औरंगजेब के दर्बार में भूषण ने निर्भीकता के साथ कवीश्वर गंग की तरह औरंगजेब के राज्य पाने के विषय में कहा था—

किबले की ठौर बाप बादशाह साहजहाँ,
ता को कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है,
बड़ो भाई दारा, वा को पकरि कै कैद कियो,
मेहर हू नहिं, माँ को जायो सगो भाई है,
बंधु तौ मुराद बख्श बादि चूक करिबे को
बीच दै कुरान खुदा की तुम कसम खाई है,

भूषण सुकवि कहैं सुनौ नवरंगजे तुम
एते काम कीन्हें फेनि पात साही पाई है।

हाथ तसबीह लिये प्रात उठै बन्दगी कों
आप ही कपट रूप कपट सुजप के,
आगरे में जाय दारा चौक में चुनाय दीन्हों,
छत्र हू छिनायो मानो मरे बूढ़े बाप के,
कीन्हों है सगोत घात, सो मैं नाहिं कहौं फेरि,
पील पै तो रायो गंग, चुगुल के गप के,
भूषन भनत छर छंद मति मंद महा,
सौ सौ चूहे खाय के बिलारो बैठी तप के।

छत्रशाल की प्रशंसा भी भूषण ने इस लिए की कि वह

लोक संस्कृति नाशक औरंगजेब के विरोध में उठ कर शिवा जी के कार्य में सहायक हो रहा था।

शिवा जी से संबंध रखने वाली रचना शिव राज भूषण है जिस की रचना भूषण ने १६७४ ई० शिवा जी के राज्याभिषेक के समय की और जिस का संशोधन उन्हों ने १६८० ई० में शिवा जी की मृत्यु के अवसर पर किया। यही कारण है कि शिवराज भूषण में १६८० ई० तक की घटनाओं का समावेश है। शिवा जी के चरित्र को अपनी आँखों के सामने देख कर कवि परंपरा का अनुसरण करते हुए विविध भूषणों (अलंकारों) से युक्त शिव (राज) भूषण लिखने की चाह भूषण को हुई—

शिव चरित्र लखि चों भयो, कवि भूषण के चित्त,
भाँति भाँति भूषननि सों, भूषित करों कवित्त,
सुकविन हूं की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ,
भूषन भूषन मय करत, शिव भूषन सुभ ग्रंथ।

शिव राज भूषण में शिवा जी के चरित्र संबंधी कवित्त अलंकारों के उदाहरणों के रूप में आये हैं। अलंकारों के लक्षण भी दिये गये हैं। इस प्रकार शिवराज भूषण रीति परंपरा का अलंकार ग्रंथ है। अन्तर इतना ही है कि उस में उदाहरण बीर रस की कविता के अधिक हैं, जब कि रीति परंपरा के अन्य कवियों ने अलंकारों के उदाहरणों में नायिका भेद की शृंगारी कविता की भरमार कर दी है। अन्यथा कविता का जहाँ तक प्रश्न है शिवराज भूषण की कविताओं को लिखने में भूषण का मन उसी तरह रमा है जैसा कि अन्य कवियों का शृंगारी कविता लिखने में। किन्तु भूषण भी शृंगारी कवि थे। उन के शृंगारी कवि. सवैय्ये भी मिलते हैं—

सौंधे भरी सुषमा सु परी मुख ऊपर आय रही अलकैं,
कवि भूषन अंग नवीन विराजत मोतिन माल हिरा झलकैं,
दोउन की मनसा मनसी नित होत नई ललना ललकैं,
भरि भाजन बाहिर जाता मनौ मुसकानि किधौं छवि की छलकैं !

कारो जल जमुना को काल सो लगत आली,
मानो विष भयो रोम-रोम कारे नाग को,
तैसियै भई है कारी कोयल निगोड़ी ये सु,
तैसेई भँवर सदा वासी वन-बाग को,
भूषन कहत कारे कान्ह को वियोग हमैं,
ऐसो ही सँजोग सब करि अनुराग को,
कारो घन घेरि मार्‍यौ अब चाहत है,
ता पै तू भरोसो री करत कारे काग को।

शिवसिंह सेंगर ने सरोज में लिखा है कि कालिदास त्रिवेदी ने अपने हजारा में नवों रसों के उदाहरणों में सहत्तर अस्सी के लगभग कवित भूषण के ही दिये थे। भूषण ने भक्ति काव्य भी संभवतः रचा। 'भक्ति भास्कर और तत्वज्ञान' नामक ग्रंथ में भूषण के नाम से एक 'अष्टक नव पदी' छपी है। 'भजो भक्ति भावे सदा श्री हरी ने' उस की टेक है। मराठी ग्रंथ 'नवनीत' (पृ० ८८, अ० १९९) में संत तुकाराम (१५८९ ई०-१६५२ ई०) की अभंगों में शिवा जी (१६२७ ई०-१६८० ई०) को १६४९-५० ई० के आसपास लिखी चिट्ठी छपी है। इस में तुका ने शिवा जी के दरबार के अष्ट कुलीकों के साथ पंडित राय भूषण को भी नमन लिखा है—

"आतां है बिनती प्रधान अष्टका......भूषण पंडितराय विद्याधन वैद्य राजा नमन माझें असो...... तुका ह्मणे तुम्हां नमन अधिकाऱ्यॉं, सागणें हें राया पत्र माझें।" शिवा जी के

दरबारी कवि जयराम पांडे ने अपने राधामाधव विलास चंपू संस्कृत काव्य में शिवा जी के दरबार के कवियों में से भूषण की विशेष प्रशंसा की है। शिवा जी, भूषण की भावना में राम और कृष्ण के अवतार थे—

दशरथ जू के राम ये बसुदेव के गोपाल।
सोई प्रकटे साहि के श्री शिवराज भुवाल।

रायगढ़ राजधानी बनने (१६६७ ई०) के बाद शिवा जी के यहाँ भूषण पहुँचे—

देसन देसन ते गुनी, आवत जाचन ताहि,
तिन में आयो एक कवि भूषन कहियतु जाहि।

कवि भूषण, कवि की उपाधि थी जो कि चितकूट पति (चित्तौड़) के सोलंकी राजा 'हृदय राम सुत रुद्र' ने उन्हें दी थी

कुल सुलंक चितकूट पति, साहस सील समुद्र,
कवि भूषन पदवी दई, हृदय राम सुत रुद्र।

ये 'हृदय राम सुत रुद्र' संभवतः वे ही रुद्रशाह हैं जिन्हें चिन्तामणि ने बाबू रुद्रशाह कह कर पुकारा है। भूषण तिकवाँपुर (त्रिविक्रमपुर) जिला कानपुर के रहने वाले कश्यपकुली कनौजिया ब्राह्मण थे। रतनाकर (अथवा रतिनाथ) उन के पिता थे—

दुज कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर सुत धीर,
बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि-तनूजा तीर,
बीर बीरबर से जहाँ, उपजे कवि अरु भूप,
देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप।

सन् १७६१ ई० की शिवराज भूषण की प्रति में 'रतिनाथ कौ कुमार' और २ 'जमुना कंठ सुठार' पाठ बताया जाता

है। चिन्तामणि और मतिराम, भूषण के भाई माने जाते हैं। कहा जाता है कि बाजीराव पेशवा से मस्तानी का और भगवन्तराय खीची के लड़के शेरसिंह से कड़ा के मुसलमान शासक का विवाह कराने में भूषण का भी हाथ था।

भूषण की कविता अनुभूति मूलक है। उस में फ़र्मायशी रचनाओं और धन प्राप्ति के लिखे गई चाटूक्तियों की नीरस अस्वाभाविकता नहीं है। कृतज्ञता के भाव अतिरंजना के साथ उस में अवश्य हैं, किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं की हत्या नहीं की गई है। पृथ्वीराज रासो तथा आल्हा की अपेक्षा शिवराज भूषण कहीं अधिक महत्व पूर्ण ऐतिहासिक काव्य है। किन्तु इतिहास वह नहीं है, काव्य है, और काव्य भी वीर रस प्रधान है, जिस में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के भाव हैं, सांप्रदायिकता के नहीं। मुहम्मद साहब, पीर, पैगम्बर तथा इस्लाम की कहीं भी निन्दा नहीं की गई है, न शिवाजी के रणिवास की ही प्रशंसा कहीं की गई है। आतंक का भाव भी उत्साह के भाव के उत्कर्ष के लिए ही आया है। तन्मयता से लिखी हुई कविताएँ भूषण की हैं, जिन से अलंकारों के लक्षण लिखने के बाद उन के उदाहरणों का काम लिया गया है, जो उदाहरण नहीं मिले वे बाद को रच कर जोड़ दिये गये। शिवराज भूषण में मनहरण, मालती, छप्पय, रोला, दोहा, हरिगीतिका, किरीटी, माधवी, अमृतध्वनि, गीतिका आदि छंदो का उपयोग भूषण ने किया है। अंत में अलंकारों की सूची दे दी है। भाविक और भाविक छवि दो नये अलंकार, भूषण ने माने हैं। भाविक में समय की दूरी होती है, भाविक छवि में स्थान की दूरी। विरोध, विरोधाभास और विषम अलग-अलग माने हैं। भूषण का यमक का उदाहरण 'ऊँचे घोर मंदिर' आदि सभी की जबान पर चढ़ा है।

भाषा में भूषण ने अच्छी कहावतों का उचित उपयोग किया है, 'सौ सौ चूहे खाय के बिलारी बैठी जप के,' 'छागो सहै क्यों गयंद को खप्पर,' 'जे परमेश्वर पर चढ़ें तेई साँचे फूल' आदि इस के उदाहरण हैं। भूषण की भाषा मुहावरेदार है, 'हग ओट गये', 'नाथ दिवाली कि राह न धाओ,' 'तारे सम तारे मुँद गये तुरकन के', 'गई कटि नाक सिगरे दिल्ली दल को' जैसे उदाहरण आसानी से मिल जाते हैं। साहित्य में प्रयोग में न आने वाले मूल ब्रज भाषा के ओत (=शान्ति), रट्ट (=ढेर), छिया (=तुच्छ) जैसे शब्द भी भूषण की कविता में आये हैं। संस्कृत शब्दों के साथ देशी विदेशी शब्दों का प्रयोग भूषण निसंकोच करते हैं, 'निखिल नकीब स्याह बोलत बिराह को' तथा 'ता दिन अखिल खलभलो खल खलक में' इस के उदाहरण हैं। शिवा जी के संसर्ग में रहने से मार्ची, चिंजी, बरंगी आदि मराठी शब्दों को भी अपनाया है। तसबीह, नकीब, कौल, तुजुक, खलक आदि आदि अरबी फारसी शब्दों को हिन्दी के उच्चारण के रूप में बदल कर, हिन्दी व्याकरण के साँचे में कस कर उन का विदेशी पन निकाल दिया। भूषण की भाषा में वे फबते हैं। प्राकृत शब्द कहीं तो अपने मूल रूप में आये हैं, कहीं, शब्दों का प्राकृत जैसा रूप बना दिया गया। ब्रजभाषा जैसी कोमल भाषा में ओज लाना भूषण का काम है। मुसलमानों के संसर्ग में रहने से खड़ी बोली का ज्ञान भूषण को था। उमंग में लिखते लिखते खड़ी बोली में आ जाते हैं, 'अफजल खाँ को मारा मयदान, 'कैद किया साथ का न कोई गरजा,' 'अफजल का काल आया सरजा,' 'बचेगा न समुहाने बहोलोल खाँ', 'पंच हजारिन बीच खड़ा किया,' 'मैं उस का कछु भेद न पाया' आदि में खड़ी बोली खड़ी हुई है।

विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा में शिवा जी जैसे वीर का यशोगान भूषण ने किया। "शिवा जी कार्य क्षेत्र के भूषण थे और भूषण भावना क्षेत्र के शिवा जी," पर खेद है कि भूषण ने शिवा जी के चरित्र के सब अंगों पर दृष्टि रख कर काव्य नहीं लिखा, प्रबंध रूप में वे यदि कुछ छोड़ जाते तो इतिहास का भी आधार मिलता और हिन्दी में अनोखी चीज भी वह रचना होती।

१५—केशव-बिहारी—सेनापति

अकबर के राज्यारंभ से एक वर्ष पहले (१५५५ ई० में) केशवदास इस पृथ्वी पर जन्मे थे। तुलसीदास की मृत्यु (शनि, ५ जुलाई १६२३ ई०) से ६ वर्ष पहले वे मर गये। भारत में प्लेग को फैले दो ही तीन वर्ष हुए थे, जब कि केशव की मृत्यु हुई। केशव की मृत्यु सन् १६१७ ई० में हुई, किन्तु उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' उन के जीवन काल में ही बना दिया गया था (देव कवि से भी इन शब्दों के प्रयोग का सम्बन्ध लोग जोड़ते हैं)। महत्वाकांक्षी परमुखापेक्षी तथा अन्ध अनुयायियों ने केशव के काव्य की हत्या के लिये अपने-अपने मुँह बढ़ाये। तुलसी के मुख में अपने शब्दों को रख कर लोगों को बताना चाहा, तुलसीदास ने केशव को प्राकृत कवि ही कह कर उपेक्षित किया। राजा लोग धन जब नहीं देना चाहते केशव की कविता का अर्थ तब पूछते हैं! इन बातों को टीकाकारों

तथा आलोचकों ने मनमाने रूप में बढ़ावा दिया है। कहीं सम्मन (१६०० ई०) की उक्ति १ को केशव के साथ२ कर दिया गया है तो कहीं केशव की छाती पर पाँव रख कर महाकवि की हिन्दी नवरत्नीय कसौटी पर तलवार चलाई गयी है ३। इण्डियन प्रेस से छपी रामचंद्रिका के संक्षिप्त संस्करण की भूमिका का लक्ष्य केशवदास के काव्य की आलोचना करना उतना नहीं है जितना 'हिन्दी-नवरत्न' द्वारा चलाई गयी कवियों को महा लघु में बाँटने की प्रणाली का खंडन करना। अपने इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए जो तर्क प्रणाली काम में लाई गई है उस में पाठक सामान्यतः बह जाता है। बातें पाठक के हृदय में घर कर जाती हैं और फिर वह यह देखने की चिन्ता नहीं करता कि केशव के काव्य के मेल में तर्क हैं या उस के विपरीत। उस भूमिका में सब से अधिक प्रभाव जिन बातों का पाठक पर पड़ता है, वे हैं केशव की हृदयहीनता को बतलाने के लिए चुने गये स्थलों में जिन में सूर्योदय की 'किधौं श्रोणित कलित कपाल यह किल कपालिका काल को' तथा सीता के रूप वर्णन की 'देखे भावे मुख, अनदेखे कमल-चंद', और सीता हरण, इन प्रसंगों को ही लोग अधिकतर दुहराया करते हैं।

सीता-हरण के प्रसंग में उस भूमिका में जो कुछ कहा गया है उसे कम लोग ठीक से समझ पाते हैं, कम से कम भूदेव ४

१—सम्मन बुढ़ापें सो करी, जो बैरी न कराइ।
कमल बदन मृग लोचनी, बाबा कहि कहि जाय ॥

२—केवल केशन श्रम करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्र वदनि मृग लो-चनी, बाबा कहि-कहि जाहिं ॥

३—इण्डियन प्रेस से छपी संक्षिप्त रामचन्द्रिका की भूमिका।

४—गद्य दीपिका में 'समालोचक' लेख देखिए, ।

शर्मा और जगन्नाथ तिवारी१ की समझ में वह आया नहीं। सारी भूमिका को ही इन व्यक्तियों ने समझा नहीं और फिर भी उस पर कीच उड़ेली है और मजे की बात यह है कि ऐसा करने के लिए उसी भूमिका का उपयोग किया गया है। उस से बाहर केशव की रचनाओं को पढ़ने का उद्योग तिवारी जी ने थोड़ा बहुत किया है किन्तु भूदेव शर्मा ने ऐसा करना आवश्यक नहीं समझा। संस्कृत के शास्त्री होने पर भी तिवारी जी ने एक विचित्र नयी बात कही है जिसे वे लक्षण ग्रंथों के सारांश के रूप में देते हैं "महाकाव्य की कथा का ऐतिहासिक आधार न होना चाहिए?" पता नहीं कालिदास के रघुवंश के कथानक के आधार को तिवारी जी क्या मानते हैं?

डाक्टर बड़थ्वाल के सीता हरण विषयक प्रसंग के बारे में इस समय मुझे इतना ही कहना है—रामचंद्रिका की सीता रामचन्द्रिका की सीता है, रामचरित मानस की नहीं। उस के रूप के बारे में 'देखे भावे मुख, अनदेखे कमल चंद' की आलोचना करते समय डाक्टर बड़थ्वाल ने लिखा है—"अगर केशव यह कहते कि सीता जी कमल और चन्द्रमा से सौन्दर्य में बढ़ जाती हैं तो कोई बात न थी, ये चीजें तब भी सुन्दर रहतीं! पर यह कह कर कि ये तभी तक सुन्दर लगते हैं जब तक देखे नहीं जाते, उन्हों ने इन की सुन्दरता को सर्वथा अस्वीकार कर दिया है!" इस के विषय में मुझे कहना है— केशवदास ने यही कहा है कि मुख, कमल और चन्द्रमा जब सामने होते हैं मुख ही तब अधिक भाता है। मुख जब तक देखा नहीं, तभी तक कमल और चन्द्रमा अधिक सुन्दर लगते

१—रामचन्द्रिका—गयाप्रसाद ऐण्ड सन्स संस्करण

रहते हैं। एक बार मुख देख लेने पर इन का भी सौन्दर्य फीका लगने लगता है।

डाक्टर बड़थ्वाल के निबंध का मुख्य लक्ष्य केशव के काव्य की आलोचना करना नहीं है, इस बात को ध्यान में न रखकर ही लोग उस भूमिका का उपयोग करते चले आते हैं। दूसरी महत्व पूर्ण रचना जिस का उपयोग लोग करते हैं लाला भगवानदीन कृत केशव कौमुदी है। दीन जी की टीका जिस युग में छपी थी उस युग के लिए बहुत सुन्दर थी। आज उस से काम नहीं चल सकता। इसके अलावा 'केशव की काव्य-कला' ही एक ऐसी पुस्तक आज तक रही है, जिस का मुख्य प्रयोजन केशव के काव्य का अध्ययन करना रहा है। पुस्तक लिखने में धुँआधार रामरतन भटनागर जी की 'केशवदास' पुरानी सामग्री का विवेक-रहित संकलन है। चन्द्रबली पाँडे जी की 'केशव दास' उपयोगी पुस्तक है। डाक्टर दीक्षित का केशव दास थीसिस अभी छपा नहीं है।

केशव के साहित्य की उपेक्षा करके भी उन के साहित्य की चर्चा होती आ रही है। और रामचन्द्रिका आज दिन भी विश्वविद्यालयों की पाठ्यपुस्तकों में स्थान पाये है। यह बात भी सूचना दे रही है, केशव के काव्य में कुछ सार है, और केशव कठिन काव्य के प्रेत भर नहीं हैं।

बेताल ने महान शक्तियों पर विजय पाई थी। केशव का कठिन काव्य पर भी पूर्ण अधिकार था। संस्कृत के वे प्रकांड पंडित थे, किन्तु बोल चाल की भाषा के साहित्यिक रूप प्राकृत के तो वे कवि भी थे। काव्य-शास्त्र के कठिन चट्टानों के बीच उन के ज्ञान के विविध प्रकार हीरों की भाँति जग-मगाते हैं।

केशव दास प्रकांड पंडित थे। उन के ग्रन्थ विविध ज्ञान-विज्ञान के कोष हैं। रसिक प्रिया (१५९१ ई०), कवि प्रिया (१६०१ ई०), रामचन्द्रिका (१६०१ ई०), वीरसिंह देव चरित (१६०७ ई०), विज्ञान गीत (१६१० ई०), और जहाँगीर जसचन्द्रिका (१६१२ ई०), केशवदास के प्रमुख ग्रन्थ हैं। साहित्य शास्त्र का शिक्षा देने के लिए ही इन की रचना हुई है, इसलिए काव्य के गुण-दोष, अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि सभी विद्यमान हैं। मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार की शैलियों का उपयोग केशव ने किया है, शृंगारी काव्य, वैराग्य काव्य, और ऐतिहासिक वीर काव्य की रचनाएँ उन की हैं। भक्त की भावना केशवदास में गहरी नहीं रही, इसलिए भक्त कवियों की विशेषताएँ उन कि काव्य में प्रमुख नहीं हैं।

केशवदास के प्रखर पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ उस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, जो कि भक्ति काव्यधारा के भावातिरेक में वह गयी बुद्धि को किनारे लगा पर चिन्तन मनन की आकांक्षा करती है, जिस में मनुष्य अपने जीवन की सार्थकता समझने लगता है। ईश्वर के ऐश्वर्य भार के नीचे दवे मनुष्य को केशव दास ने ऊपर उठाया। रामचंद्रिका के आरम्भ में वाल्मीकि के आदेश से अपने ग्रन्थ रचने की ओर जो संकेत केशवदास ने किया है वह, मानव रूप का ही संकेत है। केशव ने आदर्श मानव को, मर्यादा पुरुषोत्तम को, काव्य का विषय नहीं बनाया, ऐसा तो तुलसीदास कर चुके थे। केशव को इस की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। फिर जिस समाज के जीवन को वे अपने चारों ओर तथा आस-पास देख रहे थे, उसी के सामान्य दरवारी मानव को उन्हों ने लिया है। शाक्त मठों में होने वाले व्यभिचार का घोर विरोध उन्हों ने अपने ग्रन्थों में

किया है। वैरागी-विरक्त में यम, नियम, संयम वे आवश्यक समझते थे। गृहस्थों के लिए मुक्त रूप से भोग के द्वार उन्हों ने खोले हैं, मर्यादा की सीमाओं को बाँधने की चिन्ता उन्हें नहीं है। जिस मांडलीक जीवन के चित्र उन्हों ने अपने काव्यों में अंकित किए हैं, वे कल्पित नहीं यथार्थ हैं। उन में रंग भरने में केशव ने कल्पना की सहायता अवश्य ली है। केशव के ग्रन्थों से समाज के एक वर्ग का जीवन सामने आता है। बिहारी ने इन्हीं चित्रों को अपनी प्रतिभा से और भी अधिक प्रखर बनाया है।

केशव के ग्रन्थ काव्य-शास्त्र की शिक्षा देने के लिए रचे गये थे, आज भी उन से वही काम लिया जाता है। अलंकारों की पेचीली प्रखरता का भी अध्ययन किया जाना चाहिए शायद इसी विचार से रामचन्द्रिका विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है और कवि प्रिया तथा रसिक प्रिया का भी थोड़ा बहुत अवलोकन लोग कर लेते हैं। किन्तु इन ग्रन्थों से साहित्य शास्त्र के अध्ययन करने में हिन्दी साहित्य को कितनी प्रेरणा मिली, कितने कवि, केशव को आदर्श मान कर कविता करने में प्रवृत्त हुए, कितनों को रामचंद्रिका, कवि प्रिया, रसिक प्रिया ने कविता करनी सिखलाई, कौन-कौन-से ग्रन्थ, केशव के प्रभाव से निर्मित हुए, इस की छान बीन अभी नहीं हुई है। केशव की प्रेरणा से बिहारी ही नहीं और भी कई कवि उत्पन्न हुए हैं। रामचन्द्रिका को आदर्श मान कर और कवि प्रिया तथा रसिक प्रिया का पूरा उपयोग करके अठारहवीं शताब्दी में रामकोट में राजा गंगाबक्स सिंह ने 'कृष्णचन्द्रिका' रची, जो कि भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टियों से विशेष महत्व की है।

स्वतन्त्र रूप से केशव का अध्ययन होता रहता है, किन्तु केशव की (केशव ही की नहीं वरन ज्ञान की भी) सब से अधिक उपेक्षा यदि कहीं होती आ रही है, तो उन अज्ञान के केन्द्रों में जिन्हें लोग विश्वविद्यालय कहते हैं, जो स्वयं अपने को प्रकाश और ज्ञान केन्द्र मानते हैं, किन्तु वास्तविक रूप में अधिकांशतः अभी तक अज्ञान और अन्ध कार प्रसार के केन्द्र हैं। भारत का यह दुर्भाग्य नहीं है तो क्या है ? विश्वविद्यालयों में, कालेजों में, जिस रूप में पुस्तकें कोर्स में रहतीं हैं, जिस रूप में पढ़ाई जाती हैं, विद्यार्थी जिस रूप में उन्हें पढ़ते हैं यदि उन पर कभी ज्ञान-प्रकाश और सरस्वती की दृष्टि पड़ जाय, तो वे अपने क्षत-विक्षत अंगों की दुर्दशा देख कर रो पड़ें।

इस प्रकार के वातावरण में अहंकार, मिथ्याभिमान, प्रगल्भता और प्रमाद तथा आलस्य तो खूब फूलते हैं, किन्तु सत्य, आत्म गौरव, निर्भीकता और सहृदयता तथा परिश्रम को तनिक भी नहीं पनपने दिया जाता। और विडम्बना यह है कि हिन्दी के कर्णधार वे बनते हैं जिन की महत्वाकांक्षाएँ सागर को छू कर आकाश को धमकियाँ देती हैं, जो परिश्रम से जी चुरा कर उस आलस्य की गोद में सोते हैं, जो प्रतिवर्ष उन के लिए पुस्तकें अज्ञान से लिखवा देता है। उन का अहंकार यह नहीं कह सकता 'यह हमें नहीं आता, इसे हम नहीं पढ़ा सकते' वह तो यही गरजता है, "यह कोर्स से नहीं हट सकता, जो हम कहते हैं, वह सब ठीक है, सही है, और है इसलिये कि उसे हम पढ़ाते हैं।" केशवदास के ग्रन्थ परिश्रम चाहते हैं, और परिश्रम ही विश्व-विद्यालयों के हिन्दी के अधिकांश अध्यापकों तथा विपुल विद्यार्थियों के लिए मौत है।

मातृभाषा के लिए और परिश्रम ! उसे तो वे जन्म से ही माँ दूध के साथ पी कर बड़े हुए हैं। ऐसी अवस्था में केशव को हृदयहीन, कठिन काव्य का प्रेत, प्रेमचन्द्र को उपन्यास सम्राट, जयशंकर प्रसाद को महान् नाट्यकार, और पंडित रामचन्द्र शुक्ल को अद्वितीय आलोचक माना जाता है और उन के ग्रन्थों को मनमाने रूप दे दिए जाते हैं तो आश्चर्य ही क्या है !

केशव 'को हृदयहीन कहा जाता है। उन की रामचंद्रिका को काव्य का कंकाल बताया जाता है (यद्यपि, रामचन्द्रिका के संक्षिप्त संस्करण को सुन्दर कांड तक भी लोग पूरा नहीं पढ़ाते हैं, विद्यार्थी भी नहीं पढ़ते। भूमिका, टीका और 'केशव की काव्य कला' पढ़ लेने से ही परीक्षा में पास हो जाते हैं)। पर क्या सचमुच केशव हृदयहीन हैं ? और रामचन्द्रिका में सुन्दर काव्य नहीं ? रामचंद्रिका की बात मैं इस समय नहीं उठाना चाहता। केशवदास, इंडियन प्रेस इलाहाबाद से छपी रामचंद्रिका के संक्षिप्त संस्करण में सुन्दर कांड तक की कविता में भी, हृदय-हीन नहीं है। उन्हें भयावह हृदयहीन कंकाल रूप में आलोचक, टीकाकार और अध्यापक गण वर्षों से प्रस्तुत करते चले आ रहे हैं और ऊँघते हुए आलसी विद्यार्थी उन्हीं असत्य कथनों को घोखते चले जाते हैं, इसलिए ऐसे लोगों के बीच केशवदास ही नहीं, तुलसी, सूर और जयशंकर प्रसाद की भी सहृदता मर जाती है।

शिक्षा-विभाग को इतना अवकाश कहाँ कि विश्वविद्यालयों, कौलेजों, शिक्षालयों, उन की शिक्षाओं और पाठ्य पुस्तकों के विधान पर कड़ी निगाह वह रख सके। उस के सामने तो राज्यतंत्र के यंत्र में बराबर चलते रहने का प्रश्न है !!!

रामचन्द्रिका केशव का सब से अधिक पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ है। उस में सुन्दर काव्य की कमी नहीं है यद्यपि स्वयं उस का प्रमुख उद्देश्य सुन्दर काव्य की रचना करना नहीं है। दीर्घ दुख में कमल नाल की, विपत्ति में पद्मिनी-पात (कमल पत्र) की और वेदना (अनुभूति) में पद्मिनी की कल्पना* जिस के सौन्दर्य हृदय की भावना करती है, उस के लिए कहा जाता है कि उस ने कमल और चन्द्रमा की सुन्दरता को सर्वथा अस्वीकार कर दिया है !! †नील नभ केश पाश वाली दिग्-भामिनी (दूग !) के भाल पर लोहित (सिन्दूर के) टीके का चित्र, जिस की कल्पना में प्रभात की वेला में, पूर्व दिशा में उदय होते हुए अरुण सूर्य को देख कर आती है उस के लिए कहा जाता है, उस की सौन्दर्य की भावना कुंठित है ! प्रभातकाल के सूर्य को कापालिक के हाथ में खून से भरा हुआ खप्पर वह कहता है !! राम-प्रेम-सरोवर में खिलने वाली ‡ सीता अशोक वाटिका में राक्षसों से ऐसी ही घिरी हुई है,

---

* बालक मृणालिन ज्यों तोरि डारै सब काल
  कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को।
  विपत्ति हरत हठि पद्मिनी के पात सम।

† अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय,
  मानहुं केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय,
  परिपूर्ण सिन्दूर केधौं मङ्गल घट,
  किधौं शक्र को छत्र मढ़यो मानिक मयूख पट,
  कै शोणित कलित कपाल यह किल कपालिका काल को,
  यह ललित लाल कैधों लसत दिग्भामिनी के भाल को।

‡ सदा राम नामै ररै दीन बानी चहूँ ओर हैं राकसी दुख दानी,
ग्रसी बुद्धि-सी चित्त चिन्तानि मानौं किधौं जीभ दतावली में बखानौं।

जैसे दाँतों के बीच जीभ, वह दीना-हीना, मलिन तना, धूलि-वसना मुरझाई हुई कमलिनी है । वेणी भी उस की एक है, उलझी हुई, धूलि भरी, शरीर पर उस के मैली-सी साड़ी लिपटी है। वह ऐसी लग रही है, जैसी कि सरोवर से अलग फेंकी हुई मृणाली लगती है। "धरे एक बेनी मिली मैल सारी । मृणाली मनो पंक सौं काढ़ि डारी ॥"

वसिष्ठ के समझाने से राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के हाथ दशरथ सौंप देते हैं। विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण चलने लगते हैं, वृद्ध पिता की धूमिल हुई दोनों आँखों में आँसू भर आते हैं। दशरथ अब तक तो दरबार में थे अब राज भवन में (उन आँसुओं को एकान्त में बहाने) चले गये—

'राम चलत नृप के युग लोचन बारि भरित भै वारिद रोचन,
पायन परि रिषि के सजि मौनहिं केशव उठि गे भीतर भौनहिं ।

रास्ता चलते-चलते राम थक गये हैं। सीता और लक्ष्मण तो उन से भी छोटे थे। नदी के किनारे तमालों की घनी छाँह उन्हें दिखलाई दी , कुस कास को बिछा कर एक घड़ी सुख (विश्राम) पाने के लिये बैठ जाते हैं। शरीर के पसीने को सीता के अञ्चल से पोंछने लगते हैं। प्रेमभरी दृष्टि से सीता उन्हें देखने लगती है। चारु दृगों के इस चंचल अञ्चल से राम का सारा श्रम दूर हो जाता है।

बहु बाग तड़ाग तरंगनि तीर, तमाल की छाँह बिलोकि भली।
घटिका इक बैठत हैं सुख पाय, बिछाय तहाँ कुस-कास थली।
मग कौ श्रम श्री पति दूरि करैं, सिय के सुभ वाकल आँचल सौं।
श्रम तेऊ हरैं तिन कौ कहि केशव, चञ्चल चारु दृगंचल सौं।

दशरथ की मृत्यु हो गयी है। रानियों का सिन्दूर पुंछ गया,

सौभाग्य लुट गया। शोक-समुद्र में वे डूबी हैं। ननिहाल से भरत अयोध्या के राजभवनों में पहुँचते हैं, एकान्त शोक में अकेली पड़ी हुई अपनी माताओं को वे देखते हैं जैसे आश्रय (वृक्ष) हीन-सी बेलियाँ हों।—

मन्दिर मातु विलोकि अकेली। ज्यों विन वृक्ष विराजति बेली॥

अयोध्या के लोग भरत सहित चित्रकूट में पहुँचते हैं। माताएँ, लक्ष्मण और राम को गले लगाती हैं। विधाता के वज्र प्रहार (दशरथ की मृत्यु) से मृतप्राय वे हो गयी थीं। उन की मृत देहों ने राम-लक्ष्मण के रूप में और उन के शोकाग्नि से भस्मसात हृदयों ने वात्सल्य (अपत्य प्रेम) के रूप में मानों प्राण पा लिए—

मातु सबै मिलिबे कहँ आईं। ज्यौं सुत कौं सुरभी सु-लवाई॥
लक्ष्मण स्यौं उठि कै रघुराई। पाँयन जाय परे दोउ भाई॥
मातनि कण्ठ उठाय लगाये। प्राण मनौ मृत देहनि पाये॥

सीता भी (कौशल्या से छुट्टी पा कर) देवरिआ सासुओं (देवरों की माताओं, सुमित्रा और केकई) के पावों लगती हैं। और इस के पश्चात् राम वह विषम प्रश्न पूछ बैठते हैं जिस का उत्तर कैकेई, सुमित्रा और कौशल्या के पास (बँधे शोक बाँध को फूटने देने अलावा) कुछ नहीं था—

तब पूछियो रघुराइ, सुख हैं पिता तन माइ?
तब पुत्र को मुख जोई, क्रम तें उठीं सब रोइ।

अशोक वाटिका में दुखिनी सीता को देख कर हनुमान राम के पास लौट कर आते हैं सीता की दशा और उन का क्रन्दन संदेश वे सुनाते हैं—

१ भौंरनी ज्यौं भ्रमति रहति बन बीथिकानि,

हंसिनी ज्यों मृदुल मृनालिका चहति है,
हरिनी ज्यों हेरति न केसरी के काननहिं,
केका सुनि ब्याली ज्यों बिलान ही चहति है।
'पीउ' 'पीउ' रटत रहति चित चातकी ज्यों,
चंद चितै चकई ज्यों चुप ह्वै रहति है।
२ श्री नरसिंह प्रह्लाद की, वेद जो गावत गाथ।
गये मास दिन आसु ही, झूंठी ह्वै है नाथ।

ऐसे-ऐसे सुन्दर काव्य चित्र संक्षिप्त रामचन्द्रिका (इंडियन प्रेस संस्करण) में सुन्दर कांड तक ही अनेक मिल जाते हैं उस से आगे के कांडों और 'रसिक प्रिया', 'कवि-प्रिया' की तो बात ही अलग है ।

केशवदास शृंगारी कवि हैं। उन का शृंगार, मांडलीक जीवन के दरबारी चित्रों को अपनाता हुआ चला है इसलिए उस में उदात्त स्वस्थ जीवन की व्यापक शालीनता नहीं है। भक्ति और वैराग्य की क्षीण होती हुई धारा के भक्त कवियों और कामशास्त्रपटु दरबारी शृंगारी कवियों के बीच की कड़ी का काम केशवदास ने किया है। भक्ति यशोगान के काव्य और शुद्ध साहित्य शास्त्रीय चेतना से रचे जाने वाले काव्य रचयिता वे हैं। इस प्रकार उन की गिनती साहित्य-शास्त्रीय चेतना जगाने वाले समर्थ कवियों के अग्रणी सेनानी के रूप में होती है।

केशव की रचनाओं का साहित्य-शास्त्रीय और काव्यात्मक महत्व तो है ही, उन की अपनी भी निजी ऐतिहासिक विशेषताएँ हैं। भाषा की दृष्टि से अपनी गिनती विषाद-भरे हृदय से 'मंदमति' कवियों में वे करते हैं। उन की भाषा उन की जन्मभूमि की भाषा के शब्दों-अर्थों को ले कर

चली है। उस में शब्दों, शब्द-समूहों और अर्थों के प्राकृत तथा अपभ्रंशीय रूप भी विद्यमान हैं। दीह, उपज्जिय, सज्जिय जैसे रूप उन की रामचन्द्रिका में हैं। फारसी के भी शब्द मिल जाते हैं, ग्रामीण हिन्दी के रूप भी विद्यमान हैं, किन्तु उस का मुख्य ढाँचा, मुख्य स्रोत संस्कृत भाषा का है। व्याकरण, छन्द, अलंकार, गुण, ध्वनि, व्यंग में ही नहीं, अर्थ और विचार में भी। संस्कृत का यह प्रभाव तुलसीदास की भाषा में भी विद्यमान है। उन की भी रचनाएँ इन सभी ऊपरी भाषाओं के प्रभावों से मुक्त नहीं है। संस्कृत के कवियों, आचार्यों और रचनाओं में वाल्मीकि, दण्डी, रुय्यट, कालिदास (रघुवंश), प्रसन्नराघव, हनुमान नाटक और भोज की 'कवि प्रिया' के केशव विशेष रिणी हैं।

केशव के काव्य में वर्णन अधिक, चित्र कम हैं। उन के वर्णन एकांगी नहीं हैं। प्रभात को एकांगी रूप में देखने वालों का ध्यान, केशव की इस विशेषता पर नहीं गया है। प्रभात प्रसन्न हृदयों के लिए आनन्ददायक यदि है, तो उन के लिए जिन के जीवन में रात ही सुख लाती है (चाहे वे पक्षी हों, चाहे मानव, चाहे पुष्प) वही प्रभात, चिता की तरह दुखदायक भी है। देव की नायिका प्रभात की लाली में यही कल्पना करती है कि विरहिणी के खून को प्राची पिशाचिनी ने रात भर पिया, इसीलिये वह लाल है—

वा कचई कौ भयौ चित चीतो,
चितौति चहूं दिसि चाव सों नाचो,
ह्वै गई छीन छपाकर की छवि,
जामिनि जोन्ह मनों जम जाँची,
बोलत बैरी विहंगम देव,

सुबैरिन के घर सम्पति साँची,
लोहू पियो जु वियोगिनी को,
सु कियौ मुख लाल पिशाचिनि प्राची।

सुमित्रानंदन पंत, उल्लू को उपमान बनाते हैं, लोग उस में नवीनता पाते हैं, प्रगतिशील लेखक जब सिर्फ वातावरण के ही साम्य के लिए पूरी कहानियों तक को उपमान के रूप में लाते हैं, तब उन की भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती है किन्तु केशव यदि कह देते हैं कि उल्लू को दिन का प्रकाश जैसा दुखदायी होता है वैसा ही दुखदाई राम को भी वह हो चला है तब, केशव को लोग कोसते हैं, बाल्मीकि (सीता की अग्नि परीक्षा के अवसर पर) राम को आँखों का रोगी बतलाते हैं उस समय आलोचकों के मुँह में दही जम जाता है।

बाल्मीकि को ध्यान में रखते हुए केशव ने अपने समय के मानव को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। रामचंद्रिका में पौराणिक अतिमानवीयता कम, मानवीय स्वाभाविकता अधिक है, उन की शाप-ग्रस्त अहिल्या पत्थर की शिला से नारी में बदल कर आकाश में नहीं उड़ने लगती है, समाज परित्यक्ता वह लांछिता अपने समाज में फिर अपना ली जाती है। केशव का जटायु भी पंख फड़फड़ा कर आकाश में उड़नेवाला गिद्ध नहीं है, छत्र चमर, ध्वजा धारण करनेवाला मानव राजा है—

"गीध जटायु पर्‍यौ अवलोक्यो छत्र ध्वजा रथ देखि कै बूझेउ।"

इसी भाँति हनुमान लम्बी पूंछवाले लाल मुँह के वानर नहीं, महान् शक्ति वं पराक्रमशाली, बुद्धिमान, चतुर, राजनीतिज्ञ मानव हैं। रावण भी निर्बल, ग्यारह सिरवाला विचित्र

जन्तु और अङ्गद के तानों को सुनने वाला श्रद्धालु भक्त नहीं है। शत्रु के पक्ष को निर्बल करने में साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति को काम में लाने वाला पराक्रमशाली असीम शक्ति का तेजस्वी सम्राट् है।

भरत-शत्रुघ्न और लक्ष्मण सचमुच राम के ही भाई हैं उन के किसी कार्य से ऐसा विश्वास (तुलसी की रचनाओं को पढ़ने पर) मन में दृढ़ नहीं हो पाता। परशुराम-संवाद में केशवदास एक अत्यन्त साधारण शारीरिक क्रिया के द्वारा * भ्रातृ भाव को दिखला सके हैं; परशुराम की क्रोध-मुद्रा को देख कर भरत (शत्रुघ्न, लक्ष्मण) राम के समीप आ जाते हैं, राम और भरत एक-दूसरे के हाथ पकड़ लेते हैं। बारी-बारी से परशुराम से सभी उलझते हैं। धनुष-भङ्ग-प्रसंग भी उस अस्वाभाविकता को नहीं लिए है जो कि रामचरित मानस की विशेषता है। 'मानस' में 'भूप सहस दस एकहिं बारा' लग कर जिस धनुष को नहीं उठा सके, जनक के कुछ ही आदमी घर से जनक की सभा में उसे ले आते हैं। केशव के धनुष भङ्ग से यह भी संकेत मिलता है कि यह धनुष प्रतीक भर है, शैव धर्म, योग परंपरा में आई हुई उस जड़ता और कुटिलता तथा कट्टरता का जिस की आवश्यकता संसारी मानवों को नहीं पड़ती है इसलिए उस को भंग कर लोक जीवन

---

* राम देखि रघुनाथ, रथ ते उतरे वेगिहि।
गहे भरत को हाथ आवत राम विलोकियो।
इस का यह भी संकेत है राम को भरत सब से प्रिय थे, इसलिए उन की रक्षा का ध्यान सब से पहिले उन के मन में आता है। भरत का हाथ वे पकड़ लेते हैं।

के लिये उपयोगी विचार धाराओं के प्रतीक वैष्णव धम के प्रसार की आवश्यकता हुई। पूर्व में जनक के यहाँ दोनों के अनुयाइयों का 'समाज' जुड़ा। शैव विचार परम्परा का समर्थ खंडन करने में राम सफल हुए। जनक ने उन की मान्यता मान ली (पश्चिम उत्तर में ऐसा समाज कनखल में 'दक्ष यज्ञ विध्वंस' के समय जुड़ा था)।

लवकुश का चरित्र केशव ने रामचंद्रिका में जैसा उदात्त दिखलाया है, वैसा उस युग की किसी भी हिन्दी रचना में अभी तक नहीं मिला है।

अपने समय की कुरीतियों, धर्मों की बुरी दशाओं (विशेष कर शाक्त, शैवधर्म की दुर्दशा) तथा इतिहास के षड्यंत्रों पर केशव ने जैसा प्रकाश डाला है वैसा उन के समय के किसी दूसरे कवि ने नहीं। 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' और 'वीर सिंह देव चरित', इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। वीरसिंह देव चरित, अबुल फजल की मृत्यु के षड्यंत्र का भंडाफोड़ कर देता है, जिस पर मुसलमान इतिहास लेखकों ने पर्दा डाल दिया था। कवि प्रिया और रसिक प्रिया, अच्छे कोषों का भी काम देने वाले ग्रन्थ हैं।

केशव को जिन्हों ने उन के चित्र में ध्यान से देखा हो, उन को केशव की कमर में बँधी किस्व (कलमदान) के साथ कटार भी दिखलाई दी होगी। वह व्यर्थ की शोभा बढ़ाने वाली कटार नहीं है, उस में कुछ शक्ति थी इस का पता वीर-सिंह बुंदेला, जहाँगीर, बीरबल, अकबर सम्बन्धी केशव के जीवन की घटनाओं से चलता है।

तुलसी में मानव स्वभाव की दुर्बलताओं को भी चित्रित कर के काव्य को स्वाभाविक बनाने वाली वाल्मीकि की विशे-

पता नहीं है, यह केशव के बाँट पड़ी। "कलि कुटिल जीव निस्तार हेतु बाल्मीकि तुलसी भयो" नाभा दास कह सकते हैं, किन्तु बाल्मीकि के मानवीय पात्रों के दर्शन तुलसी के काव्य में नहीं, केशव की रचनाओं में होते हैं। इस दृष्टि से तुलसी आदर्शवादी भक्त और केशव यथार्थवादी कवि हैं।

काव्य शास्त्र की शिक्षा केशव ने स्त्रियों को भी दी। प्रवीणराय उन की सब से चतुर शिष्या थी। उस की कविताओं तथा अन्य विशेषताओं की यहाँ तक प्रशंसा केशव ने की है कि सरस्वती और लक्ष्मी ही की मूर्ति उसे बना दिया है।

आलोचकों ने जितनी निर्दयता केशव के साथ की है कबीर, जायसी, सूर तुलसी, भूषण और निराला के साथ भी उतनी नहीं की है।

काव्य की कठिनाइयों को जो पार नहीं कर सकता, उसे कोई अधिकार नहीं कि केशव तथा उन्हीं के समान दूसरे कवियों के के बारे में बेसिर-पैर की बातें वह कहे। केशव ने एक चतुर माली की तरह काम किया है। अपने काव्य की फुलवाड़ी के चारों ओर ऊँची-ऊँची कँटीली झाड़ियाँ लगा दी हैं! जिस में बुद्धि नहीं, विवेक नहीं, शक्ति नहीं, लगन नहीं वह उन झाड़ियों को देख कर लौट जाता है। अपनी इन कमजोरियों को केशव पर थोप देता है। उसे कभी भी उस फुलवाड़ी में खिले सौन्दर्य के दर्शन, नसीब नहीं हो सकते।

इतिहास और सत्य की रक्षा यदि करनी है, अपने जीवन और साहित्य को अन्धकार में यदि नहीं रखना है तो जीवन और साहित्य के अध्ययन में 'सुन पाई बेच खाई' की वृत्ति को छोड़ कर परिश्रम (और स्वतन्त्र चिन्तन) करना होगा। जिस दिन शरीर से मनुष्य ही रहते हुए भी त्रिविक्रम विष्णु-

की शक्ति और सूर्य की दृष्टि हमें मिल जायेगी उस दिन इन के आलोक में जीवन और साहित्य एक नये ही रूप में दिखलाई देंगे। केशवदास भी उस दिन 'कठिन काव्य के प्रेत', हृदयहीन कवि' नहीं रह जायेंगे। और स्पष्ट दिखलाई देने लगेगा कि बिहारी की प्रतिभा के पीछे उन के गुरु केशवदास खड़े मुसकरा रहे हैं।

(२)

बिहारी (१५६५ ई० १६६४ ई०) रसिक समाज की शृंगारी मनोवृत्ति के कवि हैं। लक्षण ग्रंथों के रचयिता केशवदास (१५५५-१६१७ ई०) के वे शिष्य थे। साहित्य-शास्त्र की सब बातें उन के काव्य में आई हैं किन्तु कोई भी लक्षण ग्रंथ उन्हों-ने नहीं रचा। लक्षण-ग्रंथों के बनाने में योग न दे कर भी उन्हों ने प्रसिद्धि पाई। लक्षणों के लिये कविता न लिख कर कविता के लिये बिहारी ने कविता लिखी। यद्यपि इस में संदेह नहीं कि किसी नृपाल ही की प्रशंसा में उसे प्रसन्न करने के लिये बिहारी ने अपनी कविता का उपयोग किया है, जैसा कि उस काल के सब कवियों के संबन्ध में कहा जाता है; और वियोग की भी अनुभूति उन्हें नहीं थी किन्तु वैभव विलास व संयोग शृंगार के अद्वितीय कलाकार हैं।

बिहारी की कविता पढ़ते ही हम ऐसे लोक में पहुँच जाते हैं, जहाँ नायिकाएँ अटा पर नट की तरह चढ़ती उतरती रहती हैं। लाल की गुड़ी अपने आँगनों में उड़ती देख कर कोई नायिका बावली सी दौड़-दौड़ कर उस की छाया को छूती फिरती है। खेतों में फूली हुई अरहर दाल के काम आती है और कच्चेपन में कुछ और काम। वारुणी सेवन कर बालाएँ ऐसी बातें वहाँ करती हैं, जिन्हें सुन कर पाठक सोचने

लगता है वह बिना आज्ञा किसी ऐसी जगह तो नहीं आगया है जहाँ उसे नहीं आना चाहिए था! शराब पी कर होश में आने वाले की भाँति पाठक वहाँ से लौटता है।

बिहारी अपनी कल्पना के सौन्दर्य में ऐसे दब गये हैं कि दूसरी ओर उन की दृष्टि नहीं जाती। उन्हें हम जब देखते हैं, कल्पना के राज्य में ही विहार करते पाते हैं। स्त्रियों के सहज सचिक्कन विथुरे-सुथरे बालों को देख कर उन का मन पथ-बेपथ नहीं देखता, वे विकट तीर्थों की चिंता क्यों करेंगे, यदि उन्हें पैरों को परसने वाली मृग-नैनी-वेणी देखने को मिल जाय। नागर होने के कारण वे काननचारी नयनों को महत्व देते हैं, भाव की रस्सी को अटारियों पर बाँध कर मन को नट की तरह उस पर दौड़ाते हैं। गुलाब की पँखुड़ियों के समान कपोलों पर, सुर-सरिता में उछलती मछलियों के समान चंचल-नेत्रों पर, दुपहरिया के फूलों की सी वर्षा कर जाते हुए अरुण-चरणों पर, अनेक चित्रकारों की कला को कुण्ठित करते हुए रूप पर, बिहारी सदैव रीझते रहते हैं। इस रीझ-भरी-दृष्टि से बिहारी ने अपने काव्य-मन्दिर में चल-चित्रों का नृत्य देखा है और ध्वनियों के पर्दों पर उसे प्रस्तुत किया है, किन्तु विहारी की कृतियाँ विद्वानों की शोभा हो सकती हैं, सर्व-साधारण की सम्पत्ति नहीं, विलास की सामग्री वे हैं, पूजा की पात्र नहीं। उन से मस्तिष्क में उत्तेजना हो सकती है, पर हृदय में शान्ति नहीं हो सकती। उस के भाव में तल्लीन हो कर रसिक आत्म-विस्मृत हो सकते हैं, सहृदय झूम सकते है पर उन में जागृति नहीं हो सकती। बिहारी के काव्य में कवि का रूप, कलाकार के नीचे दब गया है। विहारी ऊंचे से ऊंचे कलाकार हैं, किन्तु उन की सरस्वती धारा निर्झर की भाँति

नहीं झरती। इस को छोड़ कर साहित्य-शास्त्र की कोई ऐसी बात नहीं जो बिहारी की कविता में न मिले। अलंकार, बिहारी की कविता में अधिकतर उचित हैं, किंतु अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा में कई जगह अस्वाभाविकता आ गई। नायिका के घर के आस-पास पूर्णिमा का सदैव बना रहना, तिथि जानने के लिये पत्रे की भी आवश्यकता न रह जाना, जाड़े की रात में भी गीले वस्त्रों को ओढ़ कर के सखियों का नायिका के पास डरते-डरते जाना इसी प्रकार के अस्वाभाविक स्थल हैं। कल्पना की उड़ान मारने में अभिव्यक्ति की यह ऊहा विरह-प्रसंगों में और भी अधिक रूप में काव्य की स्वाभाविकता को नष्ट कर देती है। विरह से जलती हुई छाती के ताप से, आँसुओं का गिरने से पहले ही छनछना कर सूख जाना और श्वास-प्रश्वास लेते हुए हिंडोले की तरह छः-सात हाथ आगे और इतना ही पीछे हो जाना आदि, काव्य के साथ खिलवाड़ करना है। पर अपनी कविता का यह हाल बिहारी ने सब जगह नहीं किया है। बहुधा उन्हों ने काव्य के गाम्भीर्य की रक्षा की है और यही कारण है कि उन की कविता रसिकों के हृदय पर गम्भीर-घाव करती है।

बिहारी शृंगारी-वृत्ति के होते हुए भी रस के कवि नहीं हैं, ध्वनि के कवि हैं। शृंगारी-प्रवृत्ति की व्यंजना उन्हों ने अपने काव्य में की है। उन का कोई स्थाई भाव नहीं। व्यंजना के कारण बिहारी थोड़े में बहुत कह जाते हैं। एक ही कारक से सब कारकों का काम बिहारी ने लिया है। व्रज-भाषा की लोच ने भी उन की सहायता की। यद्यपि उन की भाषा में फ़ारसी व बुन्देलखण्डी शब्द भी हैं किंतु फिर भी व्रज का सुन्दर प्रयोग उन्हों ने किया है। कुछ शब्द उन की कविता में ऐसे भी मिलते हैं, जो अप्रयुक्त से हैं—स्मर के अर्थ में समर,

साँस के अर्थ में संसो, बादल के अर्थ में वार्द, साफ के अर्थ में अच्छे आदि शब्द हिन्दी-कविता में नहीं मिलते हैं। भगवत्-प्रेम के विषय में जो दोहे उन्हों ने कहे हैं, उन की भाषा अवश्य प्रसादमय है।

विहारी की कविता की सब से बड़ी विशेषता यह है कि भाषा की सामास और समाहार शक्ति के कारण गागर में सागर वह भर देती है। विहारी ने अपनी रचना में शब्द-योजना का वह कौशल दिखलाया है कि शृंगार-रस के सभी उपकरण दोहे जैसे छोटे छन्द की नली में भर गए। हिन्दी के शृंगारी-कवियों ने काव्य रचना के लिये विशेष कर कवित्त और सवैये को लिया है, जिस का कारण यह कि सवैया और कवित्त बड़े-बड़े छन्द हैं और उन में वह सामग्री प्रचुर-मात्रा में संग्रह की जा सकती है। किन्तु भाव, विभाव, संचारी तथा अनुभाव इत्यादि शृंगार के उपकरणों को दोहे में भर सकना केशवदास के विहारी शिष्य से ही संभव था। विहारी के ही कौशल का काम था कि दोहे में प्रकृति के चित्र सेनापति के कवित्तों के प्रकृति चित्रों से भी अधिक ध्वनि-पूर्ण और उज्ज्वल हो पाये हैं। बसन्त और ग्रीष्म के जो चित्र, विहारी के एक-एक दोहे ही प्रस्तुत कर देते हैं सेनापति के बड़े-बड़े कवित्त भी वे नहीं प्रस्तुत कर पाते।

बिहार की कविता में ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के यथातथ्य छोटे-छोटे चित्र ही खींच दिये हों। जो कुछ बिहारी ने लिखा है यद्यपि उस को समझने के लिये बाहर से बहुत कुछ हद तक प्रसंग का अध्याहार करना पड़ता है, फिर भी प्रसंग का संकेत स्वयं उन की कविता में मिल जाता है और भाव का अवगाहन करने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। कभी-

कभी तो उन की कविता इतनी सजीव जान पड़ती है कि मानों स्थिर चित्र में बँध कर चलचित्र हमारे सामने दिखाई दे रहे हों। एक के बाद एक स्वाभाविक क्रिया-कलाप का संगठन ऐसा प्रस्तुत किया है कि वास्तविक जीवन और कवि के शब्द में अन्तर ही नहीं रह जाता। काव्य में वर्णित घटनाएँ मानो हमारे कल्पना-नेत्रों के सामने दिखाई देती हैं—

सोन जुही सी जगमगति, अँग-अँग जीवन जोति।
सुरंग कसुंभी कंचुकी दुरंग देह दुति होति॥
चिलक, चिकनई, चटक सों लफति सटक लों आइ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लों डसि जाइ॥
सटपटाति सें ससिमुखी, मुख, घूँघट पटु ढाँकि।
पावक झर सो झमकि कै गई झरोखा झाँकि॥
ज्यों-ज्यों आवत निकट निसि, त्यों-त्यों खरी उताल।
झमकि झमकि टहले करें, लगो रहचटे बाल॥
विरह विकल बिनु हों लिखी, पाती दई पठाइ।
आंक विहूनियौ सूचित, सूनै बाँचत जाइ॥
ह्यां तें व्हां, व्वां ते इहां, नेकि धरत न धीर।
निस दिन डाढ़ी सी फिरति बाढ़ी गाढ़ी पीर॥
कर ले चूमि, चढ़ाई सिर, उर लगाइ, भुज भेटि।
लहि पाती पिय को लखित, बाचति, धरति समेटि॥
सोहति धोती सेत में, कनक बरन तन बाल।
सारद बारद बीजरी मा रद कोजति, लाल॥
भौहें हैं ऊँचे, आँचल उलटि, मोरि मोरि मुंह मोरि।
मीठि मीठि भीतर गई, दीठि दीठि सों बोरि॥
रही दहेंणी ढिग धरी, मरी मथनियाँ बारि।
फेरति करि उलटो रई, नई विलवनिहारि॥

छिनकु चलति, ठठुकति छिनकु, भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा, विज्जु छटा सौ नारि॥

रनित भृंग घंटावली झरति दान मधु नीर।
मंद मंद आवतु चल्यों कुंजर कुंज समीर॥
छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत, भौंर झौंर मधु अंध॥
नाहिन ए पावक प्रबल, लुवें चलें चहुँ पास।
मानहु विरह वसंत के, ग्रीषम लेत उसास॥
सोहत ओढ़े पीत पट्ठ, स्याम सलौने गात।
मनों नील मनि सैल पर, आतपु पर्‌यो प्रभात॥

बिहारी के दोहों में उन की जानकारी, सूक्ष्म-प्रतिभा, बारीक सूझ, कलाकार की योग्यता और साहित्य-शास्त्र तथा संस्कृत-प्राकृत के साहित्य के ज्ञान सभी कुछ विद्यमान हैं। अपना नैपुण्य प्रदर्शित करने के लिये उन्हों ने साहित्य-शास्त्र का रहस्य ढूंढा किन्तु मनुष्य समाज की पर्यालोचना नहीं की। "समय की हवा को उन्हों ने पीठ दी, उस के सामने छाती नहीं की। इसी से उन की वह प्रतिभा योग्यता और जानकारी अधिक विशाल घेरे में नहीं जा सकी, पर वह जहाँ हैं वहाँ अपनी एक विशेषता लिये है।"

दरबारी समाज के अन्तर्गत रह कर काव्य-चमत्कार प्रतियोगिताओं की भूमि में बिहारी ने अपने कौशल से जो कुछ किया है, उस से भाषा अवश्य मँजी है। भाषा की समास तथा समाहार शक्ति को बढ़ा कर, रस की सामग्री को ध्वनि के हाथों सौंप कर बिहारी ने विश्राम लिया है। केशव से पाई हुई काव्य-शिक्षा का पूरा उपयोग उन्हों ने अपनी कविता में किया है। अपने समय के सामंत जीवन के चित्रों के बीच केशव के

कार्य को उन्हों ने व्यावहारिक क्षेत्र में आगे बढ़ाया है गाथा-सप्तसती, आर्या सप्तशती, अमरूक शतक, गीत गोविन्द, विद्यापति, रहीम की छायाओं में उन्हों ने अपना काव्योद्यान विकसित किया है।

बिहारी की कविता बहुत परिश्रम ही से बन सकती है। और जिस प्रकार से काव्य में चमत्कार वे लाये हैं, वह भी परिश्रम ही जान पड़ता है, परन्तु बिहारी का कौशल इस बात में है कि उन्हों ने इस प्रकार परिश्रम किया है कि परिश्रम का पता नहीं लगता और कविता स्वाभाविक उद्वेग से प्रसूत सी लगती है। बिहारी की कविता उच्च श्रेणी की कविता के अंतर्गत आती है और उन्हें हिन्दी के कवियों में ऊँचा स्थान प्रदान करती हैं।

बिहारी के दोहों को क्रम-बद्ध करने का काम आजमशाह ने संभवतः सब से पहले किया। केवल सतसई ही एक ऐसा ग्रंथ है जो कि बिहार के नाम से प्राप्त हुआ है। शृंगार के ग्रंथों में सब से अधिक प्रचार इसी ग्रंथ का हुआ। पुराने समय से ले कर आज तक इस ग्रंथ के कई भाष्य, टीकाएँ और विस्तार हिन्दी में हो चुके हैं। कुछ लोगों ने बिहारी के दोहों को आधार बना कर उन पर नई कुंडलियाँ रचीं। हिंदी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, उर्दू, फारसी और संस्कृत में भी सतसई के अनुवाद हो चुके हैं। यह बात बिहारी की सर्वप्रियता का प्रमाण है। सतसई ही एक ऐसी रचना है, जिस का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इस का संपादन भावुक सहृदय विद्वान कवि जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' जैसे ब्रजभाषा के दिग्गज द्वारा हुआ है।

कविता में प्रभावशालिता व भावों की गंभीरता ही आती

है । बिहारी के दोहों में वह विद्यमान है । इसी भाव-गांभीर्य के कारण सतसई के दोहों पर यह उक्ति घटित हुई ।

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर !
देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर ॥

बिहारी के विषय में सब से अधिक छान बीन जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने की थी, उन के अनुसार बिहारी का जन्म १५९५ ई में ग्वालियर राज्य के वसुवा गोविन्दपुर में हुआ था । किन्तु वसुवा गोविन्दपुर ग्वालियर में नहीं बल्कि अलवर और जयपुर की सीमा के मध्य में बाँदी कुई स्टेशन के समीप है १ । शाहजहाँ के दरबार के पंडितराज जगन्नाथ के शिष्य कुलपति मिश्र को गोविन्दपुरा गाँव मिला था और उसी के समीप काली पहाड़ी बिहारी को मिली थी ।

मिर्जा राजा जयसिंह (जन्म १६११ ई० गद्दी १६२१ ई० मृत्यु १६६७ ई०) के यहाँ बिहारी, रहे । जयसिंह की छ रानियाँ थी । चौहानी रानी अनन्त कुमारी जो कि करौली के राजा श्यामदास की बेटी थी बिहारी का विशेष आदर करती थी इसी के कहने से बिहारी ने जयसिंह को भोग बिलास से बचाने के लिये—'अली कली ही तें बँध्यौ आगे कवन हवाल' वाला प्रसिद्ध दोहा लिखा था । इसी रानी के गर्भ से राम-सह (गद्दी १६६७ ई मृत्यु १६८९ ई) का जन्म १६३५ ई० में हुआ था इन दिनों बिहारी पुरानी बस्ती ब्रह्मपुरी आमेर में रहते थे, ब्रह्मपुरी के समीप रामबाग तालाब में स्त्रियों के हाव भाव अवलोकन का अवसर बिहारी को मिलता था । सुन्दर, गोपाललाल, मुकुंद , चतुरलाल, मंडन, गंग, आदि बिहारी

१ देखिए—माधुरी वर्ष २, खण्ड २, संख्या २ पृष्ठ २३३

के समकालीन कवि थे। रामसिंह के जन्म पर इन लोगों के कविताएँ रची थीं—

विहारी—चलत पाइ निगुनी गुनी धन मनि मुत्तिय माल।
भेंट भएँ जयसाहि सौं भाग चाहियतु भाल।

सुन्दर—सुन्दर सुन्दर अंग जनम्यो सुत जयसाहि कै।
राम-राम सम अंग सुंदर जग पावन करन।

चतुर लाल—चतुर लाल कौ जनम लखि दीन्ह्यौ लाल लुटाइ।
चतुर लाल पायौ विरुद चतुर लाल करि राइ।

गंग—रवि कुल दसरथ कौसिला जैसिंह अनंत कुमारि।
जनम्यो गंग प्रकास लौं राम कुँवर सुखकारि।

गंग और विहारी में परस्पर घना प्रेम भाव था—

एक वयस एकै नृपति एक जाति इस बास,
भए गंग अब अंत मैं विषम काल परकास।
अंग अंग फरकत जकत जैसे गंग-तरंग,
संग विहारी के सदा मानहुँ फिरत त्रिभंग।
सुंदर सुंदर काव्य मैं कही अलौकिक बात,
चतुर लाल की चतुरता भई जगत विख्यात।
चलौ गंग निज अंग सब धोवो गंग तरंग,
जगत जंग कौं जीति अब घूमौ नंग धड़ंग।
भए विहारी जमुन जल चलौ गंग अब धाइ,
प्रीत त्रिवेनी ह्वै मिलौ अंग-अंग लपटाइ।

चौहानी रानी ने विहारी का चित्र १६३५ ई० में उतरवाया। आगे चल कर रामसिंह का अध्यापक विहारी को नियुक्त किया। विहारी ने रामसिंह को पढ़ाने के लिए दोहे रचे, सतसई की समाप्ति १६५२ ई में हुई—

संवत गृह ससि जलधि छिति छटि तिथि वासर चंद,
चैत मास परब कृष्ण में पूरन आनँद कंद।

घरवारिया माथुर चौवे आश्वलायन शाखा, तीन प्रवर के वसुदेव के पुत्र केशव देव के पुत्र बिहारी थे।

निम्बार्क माधुरी के अनुसार बिहारी, निम्बार्क संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। निज मत सिद्धान्त के अनुसार के सरसदेव के शिष्य नरहरिदास थे जिन से बिहारी ने दीक्षा ली थी। सरसदेव वृंदावन में निधि वन की गद्दी के महंत थे। नरहरि-दास बुंदेलखंड में दसान नदी के किनारे स्थित गुड़ौ गाँव के रहने वाले थे। १५८३ ई० में जन्मे थे। १६१८ ई० में वृन्दावन वे चले आये। १६२६ ई० सरसदेव के शिष्य हुए। १६८४ ई० में १०१ वर्ष की अवस्था में नरहरिदास की मृत्यु हुई। १६०६ ई० में बिहारी का नरहरिदास से परिचय हो गया था, इसी समय से नरहरिदास ने केशव दास से बिहारी को कवि शिक्षा दिलवानी आरंभ करवा दी थी। १६१३–१६१८ ई० के बीच बिहारी, आगरा चले आये। १६०२ ई० में ओरछा में वे थे। १६१८ ई० में नरहरिदास ने शाहजहाँ से तथा रहीम से बिहारी का परिचय करवाया इसी अवसर पर बिहारी ने ये दोहे कहे थे—

१ गंग गौंछ मोछैं जमुन, अधरनु सरसुति रागु,
प्रगट खानखानानु कै कामद वदन प्रयागु।
२ जनमु ग्वालियर जानिये खंड बुँदेलैं बाल,
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल।
३ श्री नरहरि नरनाह कौ दीनी बाँह गहाइ,
सगुन आगरैं आगरे रहत आइ सुख पाइ।

दूसरे दोहे को लोग ब्रजभाषा के विकास की कहानी के

अर्थ में भी लेते हैं। कहा जाता है खानखाना अबुदर्रहीम ने इस अवसर पर प्रसन्न हो कर बिहारी को सोने से तुलवाया था। नरहरिदास ने संभवतः बिहारीदास नाम बिहारी का रक्खा था। १६६४ ई० के आसपास बिहारी की मृत्यु मानी जाती है।

(३)

सहृदयता किसी में है तो परिश्रम और अभ्यास से की हुई कविता भी कृत्रिमता के दोष से बच सकती है। सेनापति (१५८६ ई० १६५६ ई०) की कविता इस बात साक्षी है। अपनी कविता के विषय में सेनापति ने स्वयं कहा है—

ज्ञान के निधान, छंद कोष सावधान, जा की
रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी,
सेवक सियापति कौं, सेनापति कवि सोई
जा की द्वै अरथ कविताई निरवाह की।

अपना परिचय देते हुए भी उन्हों ने कविता की ओर संकेत किया है।

दीछित परसराम दादौ है विदित नाम,
जिन कीने जज्ञ, जा की जग में बड़ाई है;
गंगाधर पिता, गंगाधर की समान जा कौं
गंगा तीर बसत, अनूप जिन पाई है,
महाजानि मनि, विद्यादान हूं कौं चिन्तामनि,
हीरामनि दीछित तै पाइ पंडिताई है,
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जा की
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।

इस कवित्त के आधार पर ही सेनापति अनूप शहर के रहते वाले माने जाते हैं। वे संभवतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे

रामभक्त वे थे, गंगा, शिव, कृष्ण आदि पर भी उन्होंने कविता की है।

१ रहौ पर लोक ही के सोक मैं मगन आप,
साँची कहौं हिन्दू कि मुसलमान राउ रे,
मेरी सीख लीजै, जा मैं कछूब न छीजै,
मन मानै तब कीजै तो सौं कहत उपाउ रे,
चारि बर दैनी हरिपुर की नसैनी गंगा,
सेनापति या कौं सेइ सोकहिं मिटाउ रे,
न्हाइ कै बिसुनपदी, जाह तू बिसुन-पद,
जाहनवी न्हाइ जाह नबी पास बाउ रे।

२ पढ़ी और बिद्या, गई छूटि न अविद्या, जान्यौ
अच्छर न एक, घोख्यो कैयो तन मन है;
तातैं कीजै गुरु, जाइ जगत-गुरू कौं, जा तैं
ज्ञान पाइ जीउ होत चिदानंद घन है,
मिटत है काम क्रोध, ऐसो उपजत बोध
सेनापति कीनौ सोध कह्यौ निगमन है,
बारानसी जाइ, मनिकर्निका अन्हाइ, मेरौ
शंकर तैं राम-नाम पढ़िवे कौं मन है।

किन्तु उन की सर्व श्रेष्ठ कविताएँ रितु वर्णन में आई हैं—

१ दुरि जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ
आई रितु पाउस, न पाई प्रेम-पतियाँ,
धीर जलधर की, सुनत धुनि, धरकी है
दरकी सुहागिल की छोह भरी छतियाँ,
आई सुधि बर की, हिय मैं आनि खरकी, "तू
मेरी प्रान प्यारी" यह पीतम की बतियाँ;

बीती औधि आवन की, लाल मन भावन की
डग भई बावन की, सावन की रतियाँ।

२ सिसिर तुषार के बुषार से उखारत है
पूस बीते होत सून हाथ-पाइ ठिरि कै,
द्योस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाई,
सेनापति पाई कछू सोचि के सुमिरि कै,
सीत तैं सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै,
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति
कोक अध बीच ही तैं आवत है फिरि कै।

ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति का पर्यवेक्षण अपने लिए भी सेनापति ने किया था, परंपरा भुक्त बातें मात्र उन के काव्य में नहीं हैं। अपार परिश्रम की उपज होने व गति के स्वाभाविक न रहने पर भी उस में सहृदयता बहुत अधिक है जो एक प्रकृत कवि की सहृदयता से भिन्न प्रकार की होती है, जिस में परिश्रम का परिष्कार रहता है और जो एक अभ्यासी कवि में पाई जाती है। अभ्यासी कवि में बहिरंग का बहुत अधिक ध्यान रहता। सेनापति के बारे में भी यह उक्ति लागू होती है। उन की कविता से मालूम होता है कि आनंदनिधि (घन आनंद) की शैली उन्हों ने अपनाई है और भाषा का गहरा अध्ययन किया है। कही हुई को दूर तक निभाने की क्षमता, तुलसीदास की भाँति ही इन में पाई जाती है। ग्रीष्म में शीत तहखाने में चली गई तो भूमि में उस समय पड़े हुए शीत के वे बीज, शिशिर में उगे। शिशिर में दिन जल्दी बीत जाता है इस बात का चमत्कार पूर्ण ढंग से कथन किया है। बीर रस के अच्छे कवि सेनापति नहीं हैं,

वियोग श्रृंगार का अच्छा वर्णन किया है। शुद्ध टकसाली व्रजभाषा की प्रयोग में लाये हैं। छंद में जहाँ जहाँ यति होती है वहाँ वहाँ तुक प्रस्तुत करने का यत्न सेनापति ने किया है। इस से बढ़ कर विशेषता यह है कि छंद-छंद के अंतर्गत यतियों के साथ-साथ भावों पर भी विराम रखने का श्लाघ्य-प्रयत्न किया है।

सेनापति ने अपने ग्रंथ को रीतिकाव्य के कवियों की चलन के अनुसार, लक्षण और उदाहरण की परिपाटी पर नहीं लिखा है, फिर भी दूसरी, तीसरी और चौथी, इन तीन तरंगों पर रीति काव्य का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। संस्कृत साहित्य का गहरा प्रभाव इन पर है। अनुप्रास और श्लेष के सहारे इन के कवित्त चमत्कारपूर्ण ढंग से अनुभाव, विभाव और संचारियों का संकेत दे देते हैं। अप्पय दीक्षित के समकालीन सेनापति थे। इन दोनों के जीवन काव्य में बहुत कुछ साम्य भी है।

सेनापति की कविता राम-रसायन में, जिस का प्रचलित नाम कवित्त रत्नाकर है, संचित है। प्रयाग विश्व विद्यालय से यह ग्रंथ अच्छी तरह संपादित हो कर छप चुका है। सेनापति ने इस का रचना काल १७०६ संवत (१६४९ ई०) दिया है। इस में पाँच तरंगे हैं। पहिली तरंग में श्लेष, दूसरी में श्रृंगार तीसरी में रितु, चौथी में रामायण, और पाँचवीं में राम रसायन वर्णन के कवित्त हैं। कवित्त रत्नाकर की रचना राम और उन की चरण पादुका की वंदना से आरंभ होती है। कवि को उन राम के पद पंकजों का पूरा भरोसा है जिन का यशोगान तुलसी ने मानस में किया है—'पाइ कै परस जा कौ सिला हू सचेत भई, राम पद-पंकज कौं पूरन भरोसो है।' कवि नाइक

गुसाँई को सेनापति ने सिर नवाया है—'बुद्धि के विनाइके, गुसाँई ! कवि नाइकै सु लीजियौ बनाइ कै कहत सिर नाइकै।' तुलसी के काव्य में सेनापति की गहरी आस्था दिखाई देती है।

सेनापति ने अपनी सरस कविता में संपै, रौस, नान्हैं आदि जैसे सरस सगर्भ शब्दों का प्रयोग किया है। चोरी के भय से कवित्तों में कविता की, और थाती के रूप में उसे अपने आश्रयदाता तथा गुरु (?हीरामणि दीक्षित) को अर्पित किया—

संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक या मैं,
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज कौं,
सुनु महाजन चोरी होति चारि चरनन की
ता तैं सेनापति कहै तजि करि ब्याज कौं,
लीजियो बचाइ ज्यौं चुरावै नाहिं कोई, सौंपी
वित्त की-सी थाती मैं कवित्तन की राज कौं।

सेनापति का जन्म १५८० ई० के आसपास हुआ। राम भक्त ब्राह्मण वे थे किन्तु अन्तिम दिनों में वृन्दावन में क्षेत्र में सन्यास ले लिया। सृष्टि कर्त्ता को भक्त के नाते अच्छा उपालंभ वे दे गये—"अपने करम करि हौं ही निबहौंगो, तो तब हौं ही करतार तुम करतार काहे के ?" संभवतः १६५६ ई० के आसपास इन का अवसान हुआ।

तुलसी-मानस-विनयावली

१ तुलसीदास (सं० १० सितम्बर १५३२ ई शनि० ५ जु.१६२३ ई)

पानीपत की पहिली लड़ाई (१५२६ ई०) के छः वर्ष बाद, तीस वर्ष के जायसी, शेरशाह के दरबार की शोभा जब बढ़ा रहे थे और उसी दरबार में रामदास अपने पुत्र सूरदास को संगीत, संस्कृत और फारसी की शिक्षा दे रहे थे, रामानन्द को मरे चौरासी वर्ष जब हो चुके थे, योरोप नये ज्ञान विज्ञान के प्रभात में उठ रहा था, और अमरकोट में हुमायूँ के पुत्र अकबर के जन्म के लिये १० वर्ष शेष थे, किसी मंगन कुल में माता पिता के पाप का परिताप वह शिशु जन्मा जो आगे चल कर तुलसीदास कहलाया।

अपने जीवन के इकानवे लम्बे वर्षों में तुलसीदास ने शेरशाह की पराजय, मुगलों का उद्भव, मुगल राज्य शासन के षड्यंत्र, सूरदास, वल्भभाचार्य, तानसेन, बीरबल, जायसी, दादू, अकबर, जहाँगीर आदि की मृत्यु, केशवदास, सेनापति और घनानंद के जन्म तथा दीनेइलाही के प्रसार को देखा। गरीबी, दैन्य, दैवी प्रकोप, भूकंप, अन्नकाल और अत्याचारों तथा उस महामारी के प्रकोप को सहा जिस ने काशी में १६२३ ई० में रसखान और स्वयं तुलसी के भी जीवन का अंत किया।

इन उत्थानों और पतनों के बीच जागृति की उस शताब्दी में तुलसी ने अपने सारे जीवन की चेतना को आदर्श राज्य, समाज और संस्कृति के आर्य परंपरानुमोदित निर्माण में

लगा दिया। उन के बारह ग्रंथ १. रामचरित मानस २. कविता वली ३. गीतावली ५. दोहावली ६. बरवै रामायण ७. राम लला नह छू ८. वैराग्य संदीपनी ६ कृष्ण गीतावली १०. पार्वती मंगल और १२. सतसई हैं।

उन की रचनाएँ स्वान्तः सुखाय होते हुए भी लोकाराधनाय रची गई हैं। अपने हृदय के बोध के लिए उन्हों ने लोक चिन्तन किया है उस से असंख्य जनता के हृदयों का अंधकार भी दूर हुआ है। कठिनाई से समझ में आने वाली भाषाओं में जो ज्ञान बँध गया था उस के प्रवाह को तुलसी ने जन वाणी में भी ला दिया। कीरति भनिति भूति भलि सोई सुर सरि सम सब कहँ हित होई।' समाज व्यवस्था, पारिवारिक नीति, धर्म नीति, दर्शन शास्त्र, इतिहास, काव्य, नाटक, गीत, कहानी आदि कोई ऐसा अंग नहीं जो कि तुलसी की कृपा कोर से बचा हो। दोहा, चौपाई, बरवा, कवित्त, छप्पय, सोहर, सवैया, पद आदि छंदों और मुक्तक तथा प्रवन्ध शैलियों का प्रयोग किया है। भिन्न भिन्न रुचि के लोगों के लिए इस से राम कथा सुलभ हो गई है।

जीवन का उद्देश्य जहाँ उन्हों ने मनुष्य और समाज के सर्वतोमुखी विकास को माना है, वहाँ आत्मिक विकास की ओर ले जाने के लिए जिन अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है उन को श्रुति सम्मत ही रहने दिया, नये रूप में नहीं अपनाया। तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था का समर्थन किया है, किन्तु इस समर्थन में युग की आवश्यकताओं का भी कुछ न कुछ ध्यान अवश्य रक्खा है। आर्य संस्कृति का संरक्षण उन्हों ने नई आवश्यकताओं के लिए थोड़ी बहुत जगह बनाते हुए किया है। उन के मानस में शूद्र, शिव

मंत्र का जाप कर सकता है। छोटे बड़े, स्त्री पुरुष सभी उस में प्रवेश पा सकते हैं। भारतीय जीवन की सारग्राही एकता को अपनाते हुए तुलसी ने प्राचीनता का समर्थन विवेक के साथ किया है। अंध अनुकरण न तो वे प्राचीनता का करना चाहते थे और न अपने युग के आन्दोलनों का ही। कबीर तथा दूसरे क्रान्तिकारी सन्तों ने प्राचीनता का ध्यान न रखते हुए आन्दोलन किया था, जिस में मौजूदा समाज व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देने वाली शक्ति तो अवश्य विद्यमान थी लेकिन वह ढाँचा नहीं खड़ा किया गया था जिस को आदर्श समझ कर समान्य लोग भी जीवन में बरतें। दूसरे भक्तों और समसामयिक अन्य कवियों तथा आचार्यों ने धर्म, दर्शन और भक्ति क्षेत्र में क्रान्तियाँ अवश्य उत्पन्न कर दीं लेकिन इन नवीन भावनाओं और विचारों में बहने वाले लोगों के लिए, युगों के लिए, युगों से चले आते हुए सामान्य जीवन के मेल में पड़ने वाली व्यवस्था नहीं रची। राजनीति से जैसे इन लोगों को वास्ता न था, वैसे ही धर्म और भक्ति को ये व्यक्तिगत साधना के क्षेत्रों तक ही फैला कर समाप्त कर देना चाहते थे। उन के लिए जीवन के अंगों से जैसे वे संबंधित ही न थे।

कवियों का दृष्टिकोण भी उसी तरह सीमित हो चला था। समाज निरपेक्ष हृदय की भावनाओं तक ही काव्य को सीमित रख वे उसे साहित्य शास्त्र के नियमों में, तथा परंपराओं के अनुसरण में ही बाँधे जा रहे थे! काव्य शास्त्र के गुणों का उपयोग इस प्रकार की एकान्तिक भावनाओं को रूप देने में किया जा रहा था। अन्तः प्रेरणा के मूल में सांस्कृतिक चेतना वैसे रह ही नहीं गई थी। "कल्पना के अर्थहीन

अशक्त पंखों पर कुछ दूर तक उड़ उड़ कर ही ये लोग रह जाते थे। कबीर की तेजोमय वाणी ने प्रखर बुद्धि को भी उत्तेजना दी। जायसी की रचनाओं ने क्षण भर के लिए हृदय को धक्का दिया, लेकिन तुलसीदास अर्थ और शब्द के सशक्त पंखों के बल पर साहित्य के आकाश में बहुत दूर तक गरुड़ की भाँति उड़े हैं। उन की रचनाएँ भारतीय त्रिवि-क्रम का मध्य चरण कही जा सकती हैं। 'मानस' की दृष्टि उसी आँख की दृष्टि है जिस से उस युग के जीवन की सारी चेतना को देखा जा सकता है।"[1] 'निसंदेह सोलहवीं शताब्दी के भारत में तुलसी का उदय विश्व के इतिहास की एक महान दिव्य घटना है।"[2]

छोटे बड़े, गरीब अमीर, संपन्न, स्त्री पुरुष, बाल बूढ़े, निर्बल सबल सभी को जितनी प्रेरणा और शक्ति, तुलसी को की रचनाओं से मिलती है उतनी हिन्दी के किसी दूसरे कवि की रचनाओं से नहीं मिलती।

हिन्दी साहित्य के एक हज़ार वर्षों के इतिहास में तुलसी जैसा दिव्य द्रष्टा दूसरा नहीं हुआ। उन के मानस की घर घर आरती उतारी जाती है। अधिक से अधिक धन लगा कर, सुन्दर से सुन्दर रूप में बिना मूल्य वितरण करने पर भी भारत में बाइबल वह स्थान नहीं ले सकी है जो कि 'रामचरित मानस' लिए है। द्वितीय महासमर में बाइबल के प्रचार के लिए करोड़ों डौलर खर्च किए गए, फिर भी मानस की माँग इतनी अधिक रही कि अन्य जनता के लिए

१—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, तुलसीदास (मातृभूमि)

२—भिन्सेट स्मिथ-अकबर द्रि ग्रेट,

एक प्रति तक किसी भी मूल्य पर मिलनी असंभव सी हो गई। स्वयं अपने बल पर बिना किसी प्रचार के जो रचना इतनी अधिक व्यापक हो सकती है उस के लिए उस की सारी शक्ति का श्रेय उस के रचियता को जाता है।

तुलसीदास अपने जीवन में ही ख्याति प्राप्त कर चुके थे। ख्यात नाम व्यक्ति की जन्म तिथि को जनता ठीक जाने न जाने मरण तिथि को अवश्य याद रखती है, इसलिए तुलसी की निधन तिथि के विषय में यह दोहा असंदिग्ध माना जाता है।

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यौ शरीर।

दूसरी पंक्ति का पाठ 'श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यौ शरीर' भी है। पहले पाठ में ज्योतिष की गणना से अंगरेजी तारीख शनि ५ जुलाई १६३२ ई० निकलती है। इतिहास की और तुलसी के अनुयायियों की परंपरा से पांच जुलाई की तारीख ही अधिक मान्य हो चली है। परम्परा से तुलसी का जन्म १४६७ ई० में माना जाता है। किन्तु तुलसी की रचनाओं की अंतर-चेतना और कुछ में दी गई रचना तिथियों को ध्यान में रख कर जब अन्य ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार किया जाता है तो तुलसी का जन्म १५३२ ई० में सिद्ध होता है।

जीवनी का जहाँ तक प्रश्न है निश्चित रूप से तुलसी के विषय में वे ही बातें कही जा सकती हैं स्वयं उन की रचनाओं से जो प्राप्त होती हैं। कवितावली, दोहावली, विनय पत्रिका विशेष रूप से हमारी सहायता करती हैं। मानस, सतसई, जानकी मंगल में रचना तिथि दे दी गई हैं। कवितावली,

विनयावली, और दोहावली में वर्णित घटनाएँ, इतिहास की सहायता से काम सिद्ध करती हैं। इन ग्रंथों को ध्यान में रख इतनी बातें मिलती हैं। मानस का आरंभ १५७४ ई० में हुआ। सतसई १५८३:८५ ई० में। इसी समय जानकी मंगल पार्वत मङ्गल, व गीतावली रची गईं और कवितावली तथा दोहावली के कुछ अंश। जनकपुर यात्रा समाप्त कर लेने के बाद प्रसन्न शान्ति से तुलसी ने इन्हें रचा और इस समय उन की अवस्था ५० वर्ष से कम नहीं हो सकती क्यों कि कविताओं की आंतरिक चेतना परिपक्व हो गई है। प्रखरता के स्थान पर कोमलता आ गई है। इन के अंतिम दिन बड़े कष्ट में बीते, लोगों ने उन्हें बहुत सताया, बाहु मूल में पीड़ा असाध्य हो गई। इस कष्ट में ईश्वर से भी विश्वास कुछ कुछ उठने लगा था। मीन को शनीचरा और महामारी से त्राहि त्राहि मच गई थी, देश में अन्नकष्ट, गरीबी, भूख, दुख, अत्याचार असह्य हो गये। बचपन में तुलसी गरीबी की हालत में दर-दर फिरते रहे। राम बोला नाम उन का रखा गया था। सूकर खेत में गुरु से उन्हों ने राम कथा सुनी थी। आगे चल कर विविध ग्रंथों का अध्ययन मनन चिन्तन मनोयोग से उन्हों ने किया और इतनी प्रतिष्ठा पाई कि भूपतियों ने भी उन के पाँव पूजे समाज, धर्म, शिक्षा, जीवन में विश्रृंखलता, अंधविश्वास, अज्ञान बढ़ गया था। दंभ, अभिमान, काम, असत्य, अज्ञान का बोलबाला था। गोंड गँवार यवन महीप थे। केवल कराल दंड ही नीति रह गई थी। तुलसी ने यात्राएँ कीं। चित्रकूट उन्हें सब से अधिक पसंद था। सूरसागर से अवश्य प्रभावित हुए और इस प्रभाव के बाद कवितावली, और गीतावली की रचना हुई, इस से पहिले नहीं। कवितावली, विनयावली

दोहावली १६१४:१६२३ ई० के बीच रची गई। अपनी भूलों का परिहार करने के लिए तुलसी सदैव यत्नवान रहे हैं। पहिले की रचनाओं की कमियों को उन्हों ने बाद की रचनाओं में पूरा किया है और जीवन यात्रा तथा साहित्य में पूर्णता लाने की कोशिश की है। तुलसी का सब से महत्वपूर्ण ग्रंथ राम चरित मानस है और सब से सुन्दर-साहित्यक कृति गीतावली। साहित्य शास्त्र के प्रकांड ज्ञान की रचना बरवै-रामायण है जो कि अपूर्ण रूप में ही अभी तक प्रकाशित हुई है। सब से पेचीली रचना सतसई है।

जिस समय (१८ जून१५७६ई०) प्रताप और अकबर की तनातनी चल रही थी अकबर अपनी फौज हल्दी घाटी के मैदान में भेज रहा था उस समय रामचरित मानस की रचना तुलसी कर रहे थे। रामचरित मानस का आरंभ १५७४ ई० में हुआ था। अकबर के राज्य काल का यह वह समय था जब कि अकबर, शिया मुल्लाओं के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो पाया था। शासन की बागडोर उन कट्टर शिया मुल्लाओं और उलेमाओं के हाथ में थी जो कि मजहबी सांप्रदायिकता को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर राज्य को उस के आधीन की सत्ता बनाये रख कर मनमानी करते थे। अशिया प्रजा पर उत्पीड़न करते उन्हें संकोच नहीं होता था। फारस के बल पर धूम केतु वे बन रहे थे। उदार वृत्तियों का चतुर प्रतिभा संपन्न सूफी संत मुबारक का योग्य पुत्र अबुल फजल अभी तक राज्य को शिया प्रभाव से मुक्त कर सर्व श्रेष्ठ सत्ता बना सकने में समर्थ न हो सका था और न धार्मिक सहिष्णुता को ही वह रूप मिल पाया था जो सन् १५८४ ई० में दीने इलाही के उद्घाटन में दिखलाई देता है।

रामचरित मानस की रचना १५८४ ई० पहिले हो चुकी थी। मथुरा के मुसलमान हाकिम अकबर की कोई परवाह न कर एक ब्राह्मण को फाँसी लटका देता है अकबर कुछ नहीं कर पाता। अकबर का समकालीन जैन कवि बनारसीदास अपने अर्द्धकथानक में जौनपुर का उल्लेख करते हुए लिखता हैं जब कभी हाकिम बदलते, नये हाकिम आते, लोग लूट पाट और नये हाकिमों की खसोट नीति के भय से शहर को छोड़ देते थे या दीन हीन भेष बना कर वहाँ रहते। बाहर गये लोगों को जब यह विश्वास हो जाता कि लूट खसोट और मार पीट के जुल्म अब धीमें पड़ने लगे होंगे, तब वे शहर में आते। उस समय के भयंकर चित्रों को जहाँगीर के राज्य-काल में आगरा में आठ वर्ष रहे डच, फ्रैंसिस को पैलसार्ट ने अपने पत्रों में अंकित किया है। इन्हें देख कर आश्चर्य होता है। ये चित्र तुलसी के रामचरित मानस और कवितावली के उत्तर कांड के कलियुग वर्णन के चित्रों के इतने अधिक मेल में हैं कि आधुनिक इतिहास लेखकों की इस बात से विश्वास उठ जाता है कि अकबर का राज्य मुगल काल का स्वर्ण युग था। अकबर तथा जहाँगीर के समय के मुसलमान इतिहास लेखकों के ब्योरों से भी यही मालूम होता है कि प्रजा का जीवन अत्यंत शोचनीय था। पहिले के युगों की अपेक्षा बाहर के युद्ध कम हो जाने को, राज्य सत्ता के विस्तार को ही यदि स्वर्ण युग माना जाय तो स्वर्ण युग राजसत्ता के उसी वर्ग के लिए वह था जिस की तूती बोलती थी अथवा उस से अधिक अंधकार पूर्ण युग इतिहास में १८ वीं शताब्दी और आठवीं शताब्दी के बीच दूसरा नहीं मिलता। अकबर के राज्य काल को एक नितान्त भिन्न अर्थ में अवश्य स्वर्ण युग कहा जा सकता है और वह इस अर्थ में कि तेजस्वी, प्रतिभा-

वान लेखकों, सन्तों, कवियों, कलाकारों का चरम उत्थान उस काल में हुआ है, इसलिए अपूर्व साहित्य की और कलाओं की सृष्टि हुई है। तुलसी तथा दूसरे कवियों की रचनाओं की उपेक्षा इतिहास के विद्वान करते आये हैं यह अत्यन्त खेद की बात है। भूषण के काव्य से अवश्य कभी कभी थोड़ी बहुत सहायता ले ली जाती है किन्तु वह भी उल्लास जनक नहीं है।

गीतावली की रचना निश्चित रूप से राम चरित मानस तथा कवितावली के आरंभिक अंश, और सतसई के बाद, ऐसे समय में हुई जब कि तुलसी के जीवन में सब से अधिक शान्ति रही, जब उन का हृदय-मन पूर्ण रूप से प्रसन्न था। ऐसी स्थिति उन के जीवन में मिथिला की यात्रा करते समय आती है और यात्रा समाप्त करने के बाद तक बनी रहती है। इस समय तक सूरदास के संपर्क में भी वे आ चुके थे। एक बार शायद व्रज की यात्रा में और दूसरी वार १५८२ः ८३ ई० में। १५८१ः ८३ ई में काशी में सूरदास माने जा सकते हैं यदि मुंशियाते अबुलफजल में काशी के जिन संत सूरदास को अकबर से इलाहाबाद में मिलने का आदेश दिया गया है सूरसागर के रचयिता भक्त सूरदास वे मान लिए जायँ। कुछ लोग इन संत सूरदास को संडीले के अमीन मदनमोहन सूरदास से भी मिलाते हैं।

गीतावली में तुलसी ने रामचरित मानस की कमियों को दूर किया है। तुलसी की प्रत्येक उत्तर रचना उन की पूर्व कृति की पूर्ति है। गीतावली इस प्रकार मानस की पूर्ति है। गीतावली के चरित, मानस के चरित्रों से कहीं अधिक दिव्य, सौम्य, कोमल तथा हृदयवान हैं, विशेष कर लक्ष्मण, भरत, विभीषण,

निषाद, कौशल्या और कैकेयी। मानस में लक्ष्मण, उग्र रूप के क्रोधी और राम की छाया भर हैं। गीतावली में उन्हें कोमल हृदय दिया गया है। गीतावली के लक्ष्मण सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ कर जब लौटते हैं सीता के रुदन से उन की ग्लानि तब और भी बढ़ जाती है। वे अपने को धिक्कार ने लगते हैं। पहिले भी मेरे ही कारण से सीता पर बिपदा आई और आज भी मैं ही उन के निर्वासन का कारण हुआ। युद्ध में मेघनाद की शक्ति से मूर्छित भी हो गया था। हनुमान ने मुझे इसी दिन को देखने के लिए बचाया था क्या! मुझ पत्थर हृदय और कठोर कर्मा को विधाता ने क्यों जन्म दिया होगा!

......................लछिमन मगन पछिताय,
असन बिन बन, बरम बिनु रन, बच्यो कठिन कु घाय।
दुसहि साँसति सहन को हनुमान ज्यायो जाय।
हेतु हौं सिय हरन को तब अबहुँ भयो सहाय।
होत हठि मोहिं दाहिनों दिन दैव दारुन दाय।
तज्यो तन संग्राम जेहि लगि गीध जसी जटाय,
ताहि हौं पहुँचाय कानन चल्यो अवध सुभाय,
दास तुलसी जानि राख्यो कृपा निधि रघुराय।

लक्ष्मण की यह ग्लानि, उन के मानस के रूप में प्राण डाल देती है और भरत की मानस की ग्लानि को सामने ला देती है।

जितना अधिक परिश्रम तुलसी ने भरत के हृदय की ग्लानि को दिखला कर उन्हें निष्कलंक सिद्ध करने में मानस में किया है उतना किसी दूसरे पात्र के चरित्र चित्रण में नहीं। इसी यत्न का परिणाम है कि मानस के राम से तुलसी ने कहलवाया है—

'सुनहु लखन भल भरत सरीसा, विधि प्रपंच महँ सुना न दीसा।'
भरतहि होइ न राज मदु, बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहूँ कि काँजी सीकरनि, छीर सिंधु बिनसाइ।
तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई, गगनु मगन मकु मेघहि मिलई।
गोपद जल बूढ़हि घट जोनी, सहज छमा बरु छाडै छोनी।
मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई, होइ न नृप मदु भरतहि भाई।
लखन तुम्हार सपथ पितु आना, सुचि सुबन्ध नहि भरत समाना
.......................भरत भूमि रह राउर राखा।

किन्तु राम के हृदय में भरत के प्रति संदेह अथवा राज मद से उन के हृदय में परिवर्तन हो जाने की संभावना के प्रति कुछ कुछ विश्वास अवश्य था। चित्र कूट में यह सुन कर कि भरत स सैन्य आ रहे हैं वे सशंकित हो उठे थे। लंका से लौटने पर हनुमान को वेष बदल कर राम ने भरत के हृदय के भावों का भेद लेने के लिए अवश्य भेजा था। चौदह वर्ष की अवधि के बाद भी भरत के हृदय में राम का प्रेम कम नहीं हुआ, वे उस प्रशंसा के अधिकारी हैं जो आयोध्या सोपान में तुलसी ने की है। यही प्रसिद्ध करने के लिए तुलसी अवसर ढूंढते रहे। उन्हें मानस में केवल एक अवसर मिला और वह उस समय जब कि हनुमान वेष बदल कर भरत का भेद लेने को जाते हैं। भरत इस शर्त पर चित्रकूट से लौटे थे कि बनवास की अवधि के समाप्त होने पर यदि, अयोध्या पहुँचने में एक दिन का भी बिलम्ब राम ने किया तो भरत को वे जीवित न पावेंगे। इस भाव को पकड़ कर भरत की दिव्य मूर्ति तुलसी ने उत्तर कांड में उतारी है।

रहा एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा।
कारन कवन नाथ नहि आयउ, जानि कुटिल किधौ मोहि बिसरायउ।

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी, राम पदारविंद अनुरागी।
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा, ताते नाथ संग नहि कीन्हा।
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी, नहिं निस्तार कलप सत कोरी।
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ, दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ।
मोरे जियं भरोस दृढ़ सोई, मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई।
बीते अवधि रहहि जौं प्राना, अधम कवन जग मोहि समाना।

राम विरह सागर महँ, भरत मगन मन होत।
विप्र रूप धरि पवन सुत, आइ गयउ जनु पोत।
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात!

देखत हनूमान अति हरषेउ, पुलक गात लोचन जल बरषेउ।

मानस की सुमित्रा और कौशल्या विवेक शीला अधिक है, मातृत्व की भावनाएँ विवेक के नीचे दबी जाती हैं। वह दबी धारा गीतावली में फूटती है। विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण के चले जाने पर सुमित्रा तरह तरह की बातें सोचती है। अपनी सखी से कहती है :

१ मेरे बालक कैसे धौं मग निवहिंगे?
भूख, पियास, सीत, स्रम सकुचनि क्यों कौसिकहि कहहिंगे!
को भोर ही उबटि अन्हवैहै, काढ़ि कलेऊ दैहै?
को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख लैहै?
नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु परिजन महतारी,
ते पठए रिषि साथ निसाचर मरन, मख रखवारी।

२ जब तें लै मुनि-संग सिधाए!
राम लषन के समाचार, सखि! तब तें कछुअ न पाए?
बिनु पानही गमन, फल भोजन भूमि सयन तरु छाहीं।
सर सरिता जलपान, सिसुन के संग सुसेवक नाहीं।

कौसिक परम कृपाल परम हित, समरथ, सुखद सुचाली ।
बालक सुठि सुकुमार सकोची, समुझि सोच मोहि, आली ।

राम के बनावास के पश्चात् गीतावली की कौशल्या उन की एक एक वस्तु को देख कर विसूर विसूर कर रोती है।

जननी निरखति बान धनुहियाँ !
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ ।
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सवारे,
उठहु तात, बलि मातु बदन पर, अनुज सखा सब द्वारे,
कबहुँ कहति यों बड़ी बार भइ जाहु भूप पहँ, भैया,
बंधु बोलि जेंहय जो भावै गई निछावरि मैया ।

उसे विश्वास ही नहीं हो पाता कि राम वन गमन वास्तविकता है अथवा भ्रम भर।

माई री ! मोहि कोउ न समुझावे !
राम गवन साँचो किधौं सपनों, मन परतीति न आवै,
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लषन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उर को, बिधि जो भयो बिपरीता,
दुख न रहे रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहे बिन देखे,
करत न प्रान पयान सुनहु सखि ! अरुझि परी यहि लेखे !

निषाद भी राम परिवार का ध्यान रखते हैं। बनवास से राम की कुशल क्षेम भरत के पास अयोध्या में भेजने की बात उस के ध्यान में आती है। एक एक बात की सूचना वह भेजता है।

सुनी मैं, सखि ! मंगल चाह सुहाई !
सुभ पत्रिका निषाद राज की आज भरत पहँ आई,
कुँवर सो कुसल क्षेम बलि ! तेहि पल कुलगुरु कहँ पहुँचाई,

गुरु कृपाल संभ्रम पुर घर घर सादर सबहि सुनाई,
बधि बिराध, सुर साधु सुखी कर, रिषि सिख आसिष पाई,
कुंभज शिष्य समेत संग सिय, मुदित चले दोउ भाई,
बीच विंध्य रेवा सुपास थल बसे हैं परन गृह छाई,
पंथ कथा रघुनाथ पथिक की तुलसीदास सुनि गाई।

तुलसी के राम गरीब निवाज हैं। उन की राम भक्ति की कामना में गरीब का सुख दुख विद्यमान है।

ज्यों गरीब की देह में माह पूस को घाम।
ऐसे कैं कब लागि हौ तुलसी के उर राम।

विनय पत्रिका तो गरीब के ही दुखों की विराट अर्जी है। किन्तु तुलसी, मानस में भी गरीब को नहीं भूले हैं। गुह, निषादों का राजा अवश्य है किन्तु राम के सम्मुख वह गरीब ही है। राम से नदी पार करने की मजूरी वह नहीं लेता केवल इतना ही अनुरोध उस गरीब का है कि लौटती बेर इसी राह लौटियेगा। राम उस की बात स्वीकार कर लेते हैं। कथा की आगे की घटनाएँ नाटकीय वेग से बढ़ती हैं। एक के बाद दूसरी घटना पाठक के ध्यान को आकर्षित करती जाती है। पाठक उस नाटक में जैसे जैसे आगे बढ़ता जाता है पीछे की बातें पिछड़ती जाती हैं। चित्रकूट की भरत की बात की अवधि के समाप्त होने पर एक घड़ी का विलम्ब यदि राम के अयोध्या लौटने में हुआ तो भरत जीवित नहीं मिलेगें उसे कुछ समय तक याद रहती है किन्तु निषाद के अनुरोध को वह भूल जाता है। रावण वध के पश्चात् बहुत ही कम समय रह गया है, राम को समय पर अयोध्या पहुँचना है, पुष्पक विमान से जाने के अलावा कोई चारा

नहीं रह जाता। भरत के प्राणों का प्रश्न है। पुष्पक विमान के साथ पाठक उड़ने लगता है। उस के ध्यान में अयोध्या और भरत ही हैं किंतु उस के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता जब कि वह देखता है निषाद के स्थल पर विमान उतर गया है और निषाद से मिल कर उसे साथ ले अयोध्या की ओर राम बढ़ते हैं। गरीब का इतना ध्यान, तुलसी और उन के राम के अलावा कौन दूसरा रख सकता है? तुलसी जिस बात को एक समय कह देते हैं उस को कथा के आगे बढ़ जाने पर भी निभाते चलते हैं। यह उन की प्रवन्ध पटुता और कला की सब से बड़ी विशेषता है।

तुलसी का महत्व इस बात में नहीं है कि उन्हों ने बहुत सी रचनायें रची हैं, न इस बात में ही कि उन्हों ने लोक प्रिय राम कथा को अपनी रचनाओं का विषय ऐसे युग में बनाया जब कि चाटुकारिता करने और शृङ्गारी रचनाओं के रचने में कवि अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहे थे, जब कि वाणी अपमानित हो कर अपना सिर धुन रही थी "कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लगति पछताना।" उन का महत्व इस बात में है कि उन्हों ने अपनी परिष्कृत भावना से भारत की संस्कृति को ही राम-मय बना दिया और राम को उस संस्कृति का प्रतीक। तुलसी के आदर्शों से राम को अलग कर दीजिये वे कुछ नहीं रह जाते। तुलसी के आदर्श और भारतीय आर्य संस्कृति दो अलग-अलग वस्तुएँ नहीं। वे एक ही वस्तु के दो अलग-अलग नाम हैं। तुलसी की इस चेतना से राम कथा और कविता दोनों का गौरव बढ़ा है। हरिऔध जी ने ठीक कहा है—"कविता कर के तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला", पर यह आधुनिक

युग की उक्ति है। तुलसी के काव्य पर उन के समसामयिक भक्त नाभादास (१५४३ ई० १६२३ ई०) का छप्पय आज भी महत्व पूर्ण आलोक फैलाता है—

त्रेता काव्य निबन्ध करिव सत कोटि रमायन,
इक अच्छर उच्चरै ब्रह्म हत्यादि परायन,
अब भक्तन सुख देन बहुरि लीला विस्तारी,
राम चरण रस मत्त रहत अह निसि व्रत धारी,
संसार अपार के पार को सुगम रूप नवका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो।

बाल्मीकि ही तुलसी हुए हों न हों पर इस में संदेह नहीं "बालमीकि की सरलता (रिजुता) और व्यास की व्यापकता का सम्मिलन तुलसी में एक साथ एक बार ही हुआ है।"

(२)

"राम चरित मानस विमल, संतन जीवन प्रान।
हिन्दुआनि को वेद सम, जमनहिं प्रकट कुरान।"

विराट विश्व में सृष्टि एक महान कथा वस्तु है जिस का क्रिया व्यापार किसी महान कलाकार द्वारा प्रस्तुत किया गया अभिनय है। संपूर्ण जगत, जीवन के इस महानाटक में भाग लेता है। किसी को कम अभिनय करना पड़ता है किसी को अधिक। कोई प्रमुख पात्रों में आता है, कोई सामान्य पात्रों में और कोई गौण रूप से ही भाग लेता है। महान कवियों को प्रधान पात्रों के अंतर्गत कार्य करना पड़ता है। उन के कार्य असंख्य छोटे-छोटे नाटकों के कथानक बन जाते हैं किन्तु स्वयं विराट् पुरुष को ही अपने जीवन-नाटक का अधिनायक वे मानते हैं, इसलिए उन की कृतियों में उसी

विराट् पुरुष का यशोगान संपूर्ण सृष्टि के स्वर तालों सहित होता है। तुलसी (जन्म मंगल १० सितम्बर १५३२ ई०, मृत्यु शनि ५ जुलाई १६२३ ई०) इस तथ्य के अपवाद नहीं। विश्व के रंग मंच पर ईसा की सोलहवीं शताब्दी में आये कवियों में पश्चिम में शेक्सपियर और पूरब में तुलसीदास ही सब से महान रहे हैं। पूरब का यह सूर्य अपने साथ अनगिनित सूर्यों, ग्रहनक्षत्रों और ब्रह्माडों को प्रकाश देने वाले उस रवि को भी लाया है जिसे ज्ञानियों ने ब्रह्म, योगियों ने ईश, भक्तों ने राम और कवियों ने रामरूप हरि कहा है और स्वयं इस कवि ने कौशल्या पूर्व दिशा के गर्भ से उत्पन्न होने वाला रघुवर बाल पतंग जिसे कहा है। और इस प्रकार से 'मानस' को प्रतीक काव्य बना दिया है। रघुवर बाल-पतंग को अपने समय तक के जीवन की संपूर्ण तेजोमय शक्तियाँ दे कर तुलसी ने अपने जीवन काल में ही पर ब्रह्म का विश्व वंद्य साकार रूप बना दिया था। उन के इस कार्य की सफलता का प्रमाण पत्र ही राम चरित मानस है—"आनंद कानने ह्यस्मिन जंगमस्तुलसीतरुः। कविता मंजरी यस्य राम भ्रमर भूषिता॥ (मधुसूदन सरस्वती)" इसी से रामचरित मानस, विश्व के गिने चुने चोटी के ग्रंथों में से एक है और भारत में उस समय रचे गये काव्य धर्म-दर्शन ग्रंथों में सर्व श्रेष्ठ है।

रामचरित मानस जीवन की महानतम व्याख्या है। उस के रहस्यों का उद्घाटन करने वाली सरल स्पष्ट गीता है। वह ऐसा स्वच्छ मान सरोवर है जिस में संपूर्ण सृष्टि अपने दिव्य से दिव्य रूप में प्रतिबिम्बित हुई है। इसी से मानस जीवन लक्ष्य का प्रतीक है। जीवन की महान अभिव्यक्ति

आदर्श स्वाभाविकता के साथ उस में हुई है। जीवन को परिष्कृत करने की असीम शक्ति मानस में है। वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण, गीता, रघुवंश, प्रसन्नराघव में भी यह शक्ति है किन्तु मानस में वह सब के लिए सुलभ गंगा की धारा बन गई है। मानस में धर्म, दर्शन, काव्य, नाटक, नीति सब एक साथ हैं और हैं सरल से सरल जन-वाणी में। वेद, उपनिषद, गीता, पुराण, सब का सार निचुड़ कर उस में आ गया है। आर्य तथा आर्येतर भारतीय जातियों के महान दिव्य ग्रंथों की उस समय तक की कोई महान उपयोगी बात ऐसी नहीं जो अपने परिष्कृत रूप में रामचरित मानस में न आ गई हो। इस व्यापक उपयोगिता के कारण ही उस ग्रंथ का स्थान कोई भी अन्य ग्रंथ अभी तक नहीं ले पाया है। जिन लोगों ने अपने धार्मिक ग्रंथों का प्रचार मानस को स्थानांतरित करने के उद्देश्य से किया है वे अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सके। तुलसी ने विरोधी वृत्ति के लोगों को भी आदर सम्मान सहित रामचरित का अमृत बाँटा है। इसी से मानस के आरम्भ में उन्हों ने संतो-असंतों, सुकवियों-कुकवियों, देवों-दानवों की समान रूप से 'सतिभाऊ' से वंदना की है। सम्पूर्ण जगत को राम मय जाना, सभी धर्मों को राम के नाते अपने मानस में स्थान दिया और फिर भी अपने विवेक की सदैव रक्षा की।

> वंदौं गुरू पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हर।
> महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर॥

रामचरितमानस जीवन की सर्वाङ्गीण आदर्श व्याख्या प्रस्तुत करता है। बाल्मीकि रामायण और आध्यात्म रामायण में भी जीवन की व्याख्या है, किन्तु बाल्मीकि, काव्य की

पूर्णता के लिये मानव गुणों की आध्यात्मिकता को, तथा समाज के नैतिक आदर्श को अधिक ऊँचा नहीं उठाते। उन के दशरथ, वनवास के समय राम से कहते हैं 'तुम मुझे कैद कर राज्य भोगो।' उन के लक्ष्मण, सुमन्त को विदा करते समय दशरथ के लिये कटु संदेश भेजते हैं। उन की सीता हेम-हरिण-वध के अवसर पर लक्ष्मण की कातर ध्वनि सुन कर लक्ष्मण को राम की सहायता के लिये भेजना चाहती है, लक्ष्मण के न जाने पर उन के हृदय को भेद देने वाले वचन कहती है। इसी प्रकार भरत, राम को और राम, भरत को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। कौशल्या भी मानवी स्वार्थों की स्वाभाविकता से भरी है। इस प्रकार के चरित्र, काव्य की स्वाभाविकता अवश्य बढ़ाते हैं किन्तु लोक-शिक्षा का उच्च आदर्श नहीं प्रस्तुत करते। बाल्मीकि रामायण, काव्य ग्रन्थ है, महाकाव्य है, उस के नायक धीरोदात्त महा-पुरुष हैं। अलौकिकता का समावेश महाकाव्य में कुतूहल लाने के लिये किया गया है। आध्यात्म रामायण दार्शनिक ग्रन्थ है। मानवी गुणों को उस में महत्व नहीं दिया गया है। उस में ब्रह्म ही राम है, राम ही ब्रह्म है। ब्रह्म राम के अलावा अन्य किसी वस्तु को महत्व नहीं दिया गया है। लोक-जीवन, सामाजिक आवश्य- कता की पूर्ति, जीवन की विविधता के चित्रण द्वारा करना उस का प्रधान लक्ष्य नहीं।

तुलसी के सामने सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ थीं। वे उन से तटस्थ द्रष्टा की भाँति गहरे रूप में प्रभावित हुए थे उन्हों ने बुद्धि और उदार शिक्षा पाई थी। राम-साहित्य, राम-भक्ति, आर्य संस्कृति, आर्य शक्ति को वे सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करना चाहते थे इसलिये उन्हों ने अपने युग

को भी देखा, अपनी शक्तियों को भी तोला और विविध शृंग-मालाओं में जो कुछ शक्ति ले सकते थे उसे लिया। वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण, वाल्मीकि रामायण, आध्यात्मरामायण रघुवंश, प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रन्थों का मंथन कर उन्हों ने उस का रस सार संचित किया और पूर्ण रूप के तैयार हो जाने पर रामचरितमानस की रचना की। कथानक के लिये वाल्मीकि, आध्यात्म के लिए वेद शास्त्र, महाकाव्य रचना के लिए कालिदास, ज्ञान के लिये गीता और भक्ति के लिये भागवत को उन्हों ने अपना आदर्श माना है किन्तु इन सब आदर्शों को मानते हुए भी उन्हों ने अपना पथ अपने लिये स्वयं खोजा है इसी लिये उन का मानस इन सब से प्रभावित होते हुये भी इन सब से भिन्न है।

एक क्रौंच के वध से बाल्मीकि प्रभावित हुए। उन का संतप्त हृदय अत्यन्त दुखी हो जाता है। ब्रह्मा स्वप्न में दर्शन देते हैं और कहते हैं लोक के लिए राम कथा लिखो। इस प्रकार बाल्मीकि रामायण का आरम्भ होता है। फिर अयोध्या का वर्णन, शृंगी रिषि का यज्ञ आदि का वर्णन आता है। आध्यात्मा रामायण में पृथ्वी गो रूप धारण कर क्षीर सागर के तट पर जा कर प्रार्थना करती है फिर दशरथ के घर में राम का अवतार होता है। तुलसी ने आध्यात्म रामायण में की गो रूप धारण करने की बात अपनाई है किन्तु जय-विजय और नारद-मोह आदि अन्य कथाओं को भी राम-जन्म का कारण बनाया है। बाल्यावस्था का वर्णन बाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण में नहीं है। मानस में अत्यन्त संक्षिप्त है, दैवत्व ने बाललीला के लिए स्थान नहीं रहने दिया, ज्ञान विज्ञान की शिक्षा का प्रभुत्व भी इस के लिए उत्तरदायी हो सकता है किन्तु मुख्य कारण शायद यह है कि मानव के बाल

स्वरूप का महत्व इन की नजरों में अधिक नहीं रहा। वे उस सौन्दर्य से प्रभावित नहीं हो सके जिस ने सूरदास को आनन्द लोक में डुबोया है। वाल्मीकि में शाप के कारण अहिल्या अदृश्य हो जाती है, राम उस के चरण की वंदना करते हैं। धीरोदात्त नायक का विनीत होना आवश्यक है। आध्यात्म रामायण में अहिल्या शिला पर बैठ पर तप करती है किन्तु वह अदृश्य है। राम के चरण स्पर्श से उस का उद्धार होता है। तुलसी ने अहिल्या को ही शिला बना दिया है और रामचरण के स्पर्श में वह फिर दिव्य नारी रूप में मुक्ति पाती है। पुष्प वाटिका प्रसंग वाल्मीकि और आध्यात्म रामायण में नहीं है। तुलसी ने उसे प्रसन्न राघव से लिया है किन्तु शृंगार को अपूर्व रूप से मर्यादित कर दिया है साथ ही विवाह के विषय में यह ध्वनि भी दे दी है कि बंधन में बँधने वालों को पहिले से एक दूसरे की स्वीकृति मनोवृत्त का भी ज्ञान होना चाहिए। पार्वती-मंगल में भी तुलसी ने यह उदारता दिखलाई है। इस में उन्हों ने कालिदास का ही अनुसरण किया है कोई नई बात नहीं कही है। परशुराम प्रसंग, वाल्मीकि और आध्यात्म रामायण मेंबारात के विदा होने के पश्चात् मार्ग में आता है तुलसी ने मानस में उसे धनुष भंग के बाद ही प्रस्तुत किया है। राम प्रभुत्व की धाक जनकपुर में आये सभी राजाओं पर जम जाती है किन्तु भरत और शत्रुघ्न के भाई-प्रेम के लिए अवसर नहीं रह जाता। केशव दास ने परशुराम प्रसंग में भरत और शत्रुघ्न तथा राम के भाई प्रेम का चित्र अनुभावों के व्यापार द्वारा दिखाया है। अयोध्या कांड में वाल्मीकि ने नक्षत्रों के परिवर्तन और दशरथ के वृद्धत्व को राज्याभिषेष का कारण बनाया है। आध्यात्म रामायण में ब्रह्मा प्रेरित नारद, दशरथ से राक्षसों के मारने के निमित्त राज्याभिषेक की प्रार्थना करते हैं।

मानस में दशरथ का बुढ़ापा और राम की सर्वप्रियता तथा वयः योग्य होने को अभिषेक का कारण बनाया गया है। बाल्मीकि में कोई अलौकिक प्रभाव वरदान याचना में नहीं है। आध्यात्म रामायण में ब्रह्मा प्रेरित प्रवृत्ति कैकेई की मति भ्रष्ट करती है। मानस में सरस्वती प्रेरित मंथरा ककेई पर अपना प्रभाव डालती है। बाल्मीकि के दशरथ स्त्रैण्य प्रकृति के हैं। आध्यात्म के दशरथ सत्य के वशीभूत हैं। मानस के दशरथ प्रण निभाने वाले हैं—

रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाहि वरु बचन न जाई।

बाल्मीकि में राम के मित्र रूप मात्र में निषाद आने हैं। आध्यात्म रामायण में सेवक भी वे हैं। मानस का गुह अनन्य सेवक है। भारत का चरित तीनों में समान है मानस में भक्ति के अंग, भरत में अधिक चित्रित किये गये हैं। अरण्य कांड में अन्य बातों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जयन्त कथा में ही थोड़ा अन्तर है बाल्मीकि में जयन्त वृक्ष पर चोंच मारता है आध्यात्म में चरण पर चोंच मारने का उल्लेख उस समय आता है जब कि लंका में राम की कृपालुता का वर्णन सीता करती है। मानस में चरण में चोंच मारने का उल्लेख है। बाल्मीकि में अग्नि प्रवेश की कथा नहीं है। आध्यात्म रामायण में है। राम-नारद-मिलाप बाल्मीकि में नहीं है आध्यात्म और मानस में इस अवसर पर संतों के लक्षण कहे गये हैं। किष्किंधा कांड में बाल्मीकि के वालि में व्यंग और क्रोध करने की आध्यात्म तथा मानस में भक्ति तथा प्रार्थना दोनों हैं, वाल्मीकि में बालि, अंगद को सुग्रीव के हाथ सौंपता है, आध्यात्म रामायण और मानस में राम को। वर्षा और शरद तीनों में हैं पर मानस में मानवीय जीवन की

सूक्तियाँ अधिक हैं। सुन्दरकांड में तीनों में समानता अधिक है अन्तर इतना ही है कि वाल्मीकि में विभीषण द्वारा सीता का निर्देश नहीं है, आध्यात्म रामायण और मानस में है। लंकाकांड में, वाल्मीकि में विभीषण चार मंत्रियों सहित राम के पास जाता है। आध्यात्म रामायण और मानस में वह अकेले ही जाता है। आध्यात्म रामायण में हनुमान, तप करने के लिए हिमालय में चले जाते हैं। वाल्मीकि रामायण की मंदोदरी, राम भक्त नहीं है वह केवल आचरण सुधारने के लिये रावण को उपदेश देती है। उत्तर कांड में राम-राज्याभिषेक, शंबूक-बध, उल्लूक-न्याय, लवणासुर-वध, काल पुरुष-आगमन, सीता-बनवास, लवकुश-जन्म, लक्ष्मण-तन-त्याग, राम का प्रजा सहित साकेत गमन आदि हैं। आध्यात्म रामायण में ये सब कथाएँ हैं और अंत में राम का कौशल्या आदि को उपदेश भी है (केशव ने इस का उपयोग राम बन गमन के अवसर पर किया है।) साथ ही रावण के पूर्व जन्म की कथाएँ भी हैं और उस के जन्म को समझाया गया है। मानस में अभिषेक के बाद राम-वन्दना और स्तुति है। उस के बाद गरुड़ भुशुंडि का ज्ञान वैराग्य प्रकरण। शेष कथाएँ इस में नहीं हैं। तुलसी ने ऐसी घटाएँ जिन से राम का गौरव बढ़ता था इन दोनों ग्रन्थों से ले लीं शेष अपने आप विकसित की हैं। उन का ध्येय साधारण जनता के सम्मुख राम का आदर्श चरित्र प्रस्तुत करना था जिस में मर्यादा का पूरा ध्यान रहे। ऐसे शिक्षाप्रद चरित्र को प्रस्तुत करना ही उन्हें रुचि कर था इसलिये स्वाभाविक ही था कि राम के स्वरूप को आध्यात्मिक वातावरण में वे रखते हुए भी लोक-शिक्षा के आदर्श के योग्य बनाये रक्खें। इसीलिये उन्हों ने वाल्मीकि का कम, आध्यात्म रामायण का अधिक अनुसरण किया है। आध्यात्म

रामायण की रचना संवाद रूप में मानस में तीन संवादों में कथा चलती है। याज्ञवल्क्य और भरद्वाज कर्म-मार्ग को प्रधानता देने वाले हैं। शिव और पार्वती, ज्ञान और भक्ति को प्रधानता देते हैं। गरुड़ और भुशुंडि उपासना और भक्ति के समर्थक हैं। ब्रह्म और राम में कोई भेद नहीं है। विधि-हरि-हर के नचाने वाले वे हैं। कौशल्या और काक भुशुंडि को बाल राम ने विराट् रूप के दर्शन अपने मुख के अंतर्गत ही मानस में कराये हैं। अद्वैतवाद की विवेचना आध्यात्म रामायण में विशेष रूप से मानस में भी है वही है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत को मानते हुए भी ब्रह्म निरूपण में तुलसी ने शंकर के केवल अद्वैत को ही माना है। राम-कथा की अभिव्यक्ति और जीवन की व्यावहारिकता के लिए ही तुलसी ने विशिष्टाद्वैत को अपनाया है। कथा के साथ नवधा भक्ति के निरूपण तथा ब्रह्म के पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी, अर्चावतार आदि रूपों की अभिव्यक्ति विशिष्टाद्वैत को अपनाने से ही हो सकती थी। 'केवल अद्वैत' को अपनाने में 'पर' तथा 'अंतर्यामी रूप' ही अभिव्यक्त किये जा सकते, नवधा भक्ति का निरूपण न हो पाता क्यों कि इस के लिए ब्रह्म को व्यक्तित्व मिलना आवश्यक है। ब्रह्म के सगुण रूप में चित्रित करने से जो शंकाएँ होती उन का समाधान वैष्णव धर्म की भावना के अनुकूल कर दिया गया है। आध्यात्म रामायण का अनुसरण करते हुए भी मानस में तुलसी की मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। मानस में मानवी जीवन के साथ दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना स्पष्ट रूप से की गई है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रक्खे गये पात्रों में भक्ति का उदय जब होता है जीवन को ज्ञान और वैराग्य की दृष्टि से वे तब देखने लगते हैं और दार्शनिक विकास का प्रकाश सा वहाँ पड़ने लगता है। तुलसी के मानस में यह

विशेषता है, वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण तथा राम चंद्रिका किसी में भी यह बात नहीं है। राम विलाप में भी मानस में संतोष और शोक मार्जन के लिए नारद आ कर राम से ज्ञान और वैराग्य विषयक वार्तालाप करते हैं। प्रत्येक घटना और प्रत्येक पात्र का सम्बन्ध दार्शनिकता से जोड़ दिया गया है। जिस से दार्शनिकता मानव जीवन का अभिन्न अंग बन गई है। वैसे तो स्वतंत्र रूप से मानस के लिए प्रसिद्ध ही हो चला है—"बाल का आदि उत्तर का अन्त। जो जाने सो पूरा सन्त।" तुलसी ने सभी प्रकार के भावों के आदर्श पात्रों का निर्माण, लोक समाज-शिक्षा और वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा रक्षा को ध्यान में रखते हुए किया है। जिस से मानस, समाज शास्त्र का ग्रन्थ भी बन गया है। दशरथ सत्य-प्रेम पुत्र-प्रेम के आदर्श हैं, भरत भाई प्रेम के; सीता पति भक्ति की; कौशल्या, पति प्रेम, धर्म-प्रेम, कर्तव्य प्रेम, की; रावण भौतिकता का, इसी भाँति उन्हों ने रावण, मंथरा मंदोदरी निषादराज गुह, मारीच, त्रिजटा का चरित्र नये ढंग से निर्मित किया। सब पर राम प्रेम का रंग चढ़ा दिया है। इस के साथ ही मानस में जीवन की समष्टि रूप से अभिव्यक्ति हुई है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की कोई बात ऐसी नहीं जो मानस में न मिल जावे किन्तु हैं सभी मर्यादायुक्त ढंग से। फल स्व रूप तुलसी का मानस महाकाव्य भर नहीं, महान लोक धर्म काव्य और दर्शन काव्य भी है। तीनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रख कर तुलसी ने मानस रचना की है इसी लिये वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण, और रघुवंश से वह भिन्न है।

तुलसी, रामानन्द के सम्प्रदाय के वैष्णव थे। रामानन्द

(१२६६ ई १४४८ ई) गाजीपुर के रहने वाले थे १ और रामानुज (१०३७ ई ११३७ ई की परम्परा के संत-योगी भक्त राघवानन्द के शिष्य थे। रामानन्द में ज्ञान, भक्ति और योग की धाराएँ मिलकर एक हो गई थीं। उन के शिष्यों ने अपनी अपनी रुचि के अनुकूल विशेष धारा को अपनाकर विकसित किया। निगुर्ण धारा में उन के सब से महान शिष्य कबीर (१३६८ ई १४४८ ई) हुए, भक्ति धारा में तुलसीदास और निरंजनी धारा में तुरसीदास। कबीर, रामानन्द के समसामयिक थे। तुलसी और तुरसी बाद को हुए। रामानन्द की शिक्षाओं को इन्हों ने अपनाया है इसलिये ये लोग रामानन्दी कहलाते हैं। रामानन्द के शिष्यों की यह विशेषता रही है कि जिन्हों ने सगुण भक्ति को अपनाया उन्हों ने योग और निर्गुण ज्ञान का निरादर नहीं किया, जिन्हों ने निर्गुण ज्ञान और योग को पसन्द किया उन्हों ने सगुण भक्ति का भी आदर किया। दार्शनिक दृष्टि से 'केवल अद्वैत' अपनाते हुए इन सब ने व्यावहारिक जीवन के लिए विशिष्टाद्वैत को महत्व दिया है। शंकर ने भी भक्ति की उपेक्षा नहीं की थी, किन्तु विशिष्टाद्वैत के आदि आचार्य जामात्रि मुनि थे जिन से श्री संप्रदाय का आरम्भ होता है। रामानुज ने इन्हीं के सिद्धान्तों का विकसित रूप, बाद को प्रस्तुत किया। जामात्रि मुनि के अनुसार, जीव स्वयं प्रकाश, एक रूप, आनन्द रूप, चेतन, व्याप्तिशील, अणुरूप, बहुरूप, शुद्ध, शाश्वत होने से परमात्मा से अभिन्न और भिन्न एक साथ है। भक्ति की साधना से परमात्मा के दर्शन, वह कर लेता है। 'जन्म' अस्तित्व, विकास, रूप

प्रयाग के रहने वाले वे माने जाते हैं। फर्कुहर ने उन्हें दक्षिण का रहने वाला माना है

परिवर्तन, ह्रास और लय उस में विद्यमान हैं। पुनर्जन्मवाद, कर्मवाद, बंधन कारण सिद्धान्त, मुक्ति सिद्धान्त, विश्वोत्पत्ति सिद्धान्त सब का विकास वैष्णव धर्म ने अपने ढंग से किया है। प्राचीन वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुयायी रामानुज थे। रामानुज के सिद्धान्तों को तुलसी ने पूर्ण रीति से अपनाया है। रामानुज के इष्टदेव नारायण थे। तुलसी ने उसे उपनिषदों तथा पुराणों के राम के नाम से पुकारा। वर्णाश्रम धर्म के अनुयायी होने से सामाजिक मर्यादा की अव्यवस्था तुलसी को असहनीय थी। जहाँ कहीं ऐसी स्थिति उन के सम्मुख आती है वे खीझ उठते हैं। एक ओर यह खीझ और दूसरी ओर सब धर्मों, सब दर्शनों का समन्वय उन की विशेषता है। मानसिक क्रियाओं की स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए उन्हों ने राम भक्ति और अपने सिद्धान्तों को सर्वोपरि भी दिखला दिया है। यहाँ तक कि कौशल्या, दशरथ तथा रावण भी राम के भक्त हैं। रावण भक्ति के कारण * बैर मोल लेता है। कौशल्या राम की वंदना करने के समय वनवास के अवसर पर चरण छूती हैं।+

दुर्बल मनुष्य को ईश्वर का पर्याप्त भरोसा रहता है। तुलसी ने राम की परंपरागत कथा को धर्म के उज्ज्वल और बल शाली रूप में जनवाणी में पौराणिक ढंग से प्रस्तुत किया इसलिए सामान्य जनता का भी ध्यान मानस की ओर स्वतः चला गया। मानस उन के लिए जीवनदायक अमृत-ह्रद बन गया।

---

* तामस देह भजन नाहि होई इत्यादि

+ बार बार कौसिल्या विनय करइ कर जोरि। अब जनि कबहुं व्यापइ, प्रभु मोहि माया तोरि।

जायसी (१४६४ ई० १५६१ ई०) ने हिन्दू पात्रों की कथा द्वारा सूफीमत का प्रतिपादन किया और उसे धार्मिक परिवार की वस्तु बनाने की चेष्टा की, पर वह इतनी व्यापक न हो पाई, क्योंकि उसमें केवल सूफी ही मत का प्रतिपादन था। तुलसी ने इस कमी का अनुभव किया और अपने मानस में अपनी भावनाओं को सुरक्षित रखते हुए अन्य भावनाओं का भी यथा स्थान समावेश कर दिया है। खंडन की प्रवृत्ति न दिखा कर समन्वय की वृत्ति ही तुलसी ने दिखलाई है। गरुड़ काक-भुशुंडि सम्वाद में ज्ञान और भक्ति विषयक तर्क वितर्क, खंडन-मंडन सा लगता है लेकिन है नहीं। तुलसी, ज्ञान को केंद्र में रख कर भक्ति का जल, वृत्त भर में फैला देते हैं। धर्मों और दर्शनों की विभिन्नता दूर कर तुलसी के मानस ने एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया जिस से उन का 'मानस' विरोधी धर्म वालों को भी प्रिय हुआ।

बहु विधि विलपि चरण लपटानी।
परम अभागिनि आसुहि जानी।

कबीर ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया था किन्तु सगुण रूप में गुरु और व्यवहार रूप में प्रेम भावना को अपनाने की आवश्यकता उन्हें भी हुई। जायसी ने प्रेम भावना को प्रतीक रूप में अर्द्ध ऐतिहासिक कथा का आधार अवश्य दिया किन्तु उस कथा के पात्र सार्व भौम आकर्षण की शक्ति से वंचित थे, इसलिए पद्मावत अधिक सम्मान न पा सका। तुलसी ने निर्गुण ब्रह्म को सगुण साकार बनाया किन्तु कथा के लिए कृष्ण चरित्र को भी नहीं चुना क्योंकि उस में मर्यादा रक्षा की कठिनाइयाँ थी, शृंगार का बाहुल्य था, क्रमबद्धता कम जटिलता-रहस्यमयता अधिक थी। राम कथा को पहिले

के महान कवि, राजपथ की भाँति व्यवस्थित सरल और धारा-वाही रूप दे चुके थे। वह कथा महाकाव्यों में सिद्ध हो चुकी थी। कालिदास ने उसे सांस्कृतिक आदर्शों के उच्च शिखर तक पहुंचा दिया था। महान अभिलाषा रखने वाले तुलसी ने अपनी दुर्बलताओं का ज्ञान होते हुए भी उस लोक हितकारी महान पुण्य कथा को अपने मानस के लिए चुना और शिव कथित रामचरित को प्रधानता दे कर शैवों और वैष्णवों के कलह को भी शान्त कर दिया। जन-जीवन के सरोवर में दिव्य कमल विकसित हुआ उसी का नाम तुलसी था। शेषशायी विष्णु की नाभि से यह कमल उत्पन्न हुआ था चतुर्मुखी ब्रह्मा उस कमल पर बैठे मंत्रोच्चार करते हैं। नीचे क्षीर सागर है विष्णु के चरण लक्ष्मी दबा रही हैं। जय-विजय पार्श्वद हैं। तुलसीने इस सम्पूर्ण वातावरण को मानस के रूप में पृथ्वी पर उतारा है इसीलिए शरद के वर्णन में उन्हों ने कहा है—
सरिता सर निर्मल भये कैसे निर्गुण ब्रह्म सगुन भए जैसे।
निर्गुण ब्रह्म केन्द्री भूत नहीं हो सकता, उस का अव्यक्त रूप, व्यक्त नहीं हो सकता, वह गिने चुने उच्च कोटि के साधकों और योगियों की अनुभूति का ही विषय बन सकता है। सामान्य गृहस्थों को, सामान्य साधकों को सगुण साकार में ही घना विश्वास हो सकता है। वह भी अधिक स्थाई तभी हो पाता है जब कि ब्रह्म भी मानव रूप धारण कर ले, इसी विचार से तुलसी ने श्रुति सेतु पालक राम' और 'जग-दीश माया जानकी' को परब्रह्म और उस की शक्ति मानते हुए भी दशरथ नंदन और जनक तनया के रूप में अपनाया है और भावी दार्शनिक आध्यात्मिक चेतना की अनुभूतियों को, ज्ञान और भक्ति के हीरे मोतियों को विधि से वेध कर युक्ति से राम कथा के वर ताग में पिरोया है। फल स्वरूप

उन का मानस सब के लिये उपयोगी कल्प वृक्ष सिद्ध हुआ।

(३)

रामचरित मानस 'छहों शास्त्र सब ग्रंथन को रस' है। विद्वान भक्त तुलसीदास जी ने उसे प्रबन्ध काव्य की शैली में लिखा है। साहित्यिक अवधी भाषा और परम्परा से प्राप्त कुछ चुने हुए छंदों में उसे जग-मंगल तथा स्वान्तः सुखाय लिखा है। तुलसीदास जी आर्य संस्कृति के मूर्तिमान संत थे। युग की परिस्थियों को देखते हुए उन्हों ने मानस को भक्ति के दृष्टिकोण से लिखा है। उच्च कोटि के ज्ञान और सात्विक कामों की शिक्षा, जन जीवन के हृदय में घर किये हुए उच्चतम चरित नायक की सुलझी हुए मर्मस्पर्शी कथा के द्वारा ही हृदय-ग्रह्य रोचक ढंग से दी जा सकती थी, इसलिए उन्हों ने राम की कथा को अपनी रचनाओं के लिये चुना। कृष्ण की कथा रहस्यमय थी उस का उपयोग शृंगारी मुक्तकों के लिये सम सामयिक कवि भी कर रहे थे। शृंगार की विलासी तन्मयता की बाढ़, वैभव संपनों की रुचि के अनुकूल हो सकती थी किन्तु असंख्य विपन्नों की मनोवृत्ति के विपरीत ही वह थी। चरित्र को ऊपर उठाकर, अपनी संस्कृति की रक्षा करने वाली शक्ति की आवश्यकता सभी को एक समान थी, इसलिये तुलसी ने कृष्ण मूर्ति के सम्मुख भगवान से राम रूप में जनता के सम्मुख आने की प्रार्थना की थी—

'का वरनऊँ छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष वाण जब हाथ॥

'युग को इस मनोहर मोहन रूप की नहीं धनुष वाण वाले राम रूप की आवश्यकता है।' और तुलसी के हृदयस्थ भगवान ने उन के लिए अपना रूप बदल दिया। तुलसी का

जीवन और काव्य, राम मय हो गया। उन की शारदा ब्रह्मा के भवन को छोड़ कर, भक्ति प्रेम के कारण स्मरण करते ही दौड़ी चली आई। उस ने रामचरित के सरोवर में स्नान किया। उस ने सारी थकान दूर हो गई, वेदों की वाणी, रामचरित की रसधारा में निम्मजित हो कर सामने आई और विश्व का महानतम काव्य ग्रंथ रामचरित मानस बन गया। काव्य-ग्रंथों के बन जाने पर काव्य-शास्त्र के ग्रंथ बनते हैं। किन्तु रामचरितमानस की सभी बातें विचित्र हैं। वह अपने आप काव्य ग्रंथ है और अपने काव्य-शास्त्र को भी अपने में समेटे है। मानस के काव्य शास्त्र में 'रस विशेष' सर्वोपरि है किन्तु काव्य ग्रंथ मानस में काव्य-शास्त्र के सब रस अपने सम्पूर्ण अंगों उपांगों सहित विद्यमान है। जीवन के सब रसों, सब भावों को अपने में लीन कर मानस का रस काव्य के रस को आध्यात्मिकता के पथ लगा देता है।

काव्य की आत्मा रस है किन्तु जीवन की आत्मा परब्रह्म है, राम है। इसी से परब्रह्म राम की अनुभूति का आनंद ब्रह्मानंद है। और काव्यानंद सहोदर, परब्रह्म रस की भाँति है, और रस परब्रह्म की भाँति। इसी से दोनों अनिर्वचनीय हैं। रस की अभिव्यक्ति के लिए जिन साधनों को काम में लाया जाता है उन का उपयोग तुलसीदास जी ने अपने मानस में किया है। उपयुक्त शब्द चयन, उपयुक्त गुण, उपयुक्त अलंकार, उपयुक्त छंद सब उस में विद्यमान हैं, किन्तु रस की अभिव्यक्ति भर के लिए तुलसी ने राम कथा नहीं लिखी है। साहित्य-शास्त्रीय ढङ्ग से राम चन्द्रिका वे नहीं लिख रहे थे। उन का लक्ष्य रामचरित के सहारे सम्पूर्ण जीवन के महान नाटक को प्रस्तुत करना था। इसी धर्म की पूर्ति में रस की भी अभिव्यक्ति हुई है। तुलसी से पहले के कवियों ने

कथाओं में विशेष रुचि दिखलाई है किन्तु उन का विधान इस तरह से किया है कि वे धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतीक रूपक का भी काम दें। अर्द्ध-ऐतिहासिक सामान्य मानवों की प्रेम कहानियाँ उन लोगों ने चुनी। परिणाम यह हुआ कि सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्णतः उपयुक्त न सिद्ध हुईं। उन का आदर ठेठ बोलचाल की भाषा और सौन्दर्य-प्रेम की तीव्र भावनाओं के कारण हुआ, न कि दार्शनिक अथवा जीवन के नैतिक सिद्धान्तों की अथवा कथा की उदात्तत्ता तथा कलात्मक रोचकता के कारण जायसी का पद्मावत इसी प्रकार का ग्रंथ है। तुलसी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के आदर्श को परिष्कृत तथा परिवर्धित किया। वर्णनात्मकता में व्यंजनात्मकता का समावेश तुलसी ने अपनी रचनाओं में किया, जिस के फल स्वरूप विचार-सौन्दर्य आप से आप लक्षित हो गया। उदाहरणार्थ भारत के चरित्र से यह ध्वनि निकलती है कि भाई का आदर्श कैसा होना चाहिए। तुलसी ने जीवन के सत्यों की अभिव्यंजना कर के यह बतलाया है कि उस के आदर्श किस प्रकार ग्राह्य होते हैं। जायसी में यह बात नहीं है। उन के पद्मावत में जीवन का जो चित्र है उस के विषय में सामूहिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन ऐसा ही होता है। तुलसी को व्यंजनात्मक वर्णन में ही जीवन के सत्य के निरूपण के साथ रस की आवश्यकता पड़ी है। तुलसी की शैली की यह एक विशेषता है कि उस में कथा सूत्र के बीच में ही जीवन के सत्य निरूपित किए गए हैं और रस का भी उस में समावेश हो गया है।

तुलसी का रस निरूपण अधिक व्यापक है। इस का भी कारण है। स्थाई भाव के साथ जितने भी संचारी हो सकते हैं सब का वर्णन तुलसी कर देते हैं। स्थाई भाव की पुष्टि

पूर्ण रूप से हो इसी विचार से उन्हों ने ऐसा किया है। धनुष-भंग के समय सीता की मानसिक स्थिति का तथा बनवास के अवसर पर दशरथ कैकेई संवाद में दशरथ की मानसिक स्थिति का जो चित्रण, तुलसी ने मानस में किया है वह इन की इस विशेषता का अच्छा उदाहरण है। संयोग शृंगार में चपलता, जड़ता, त्रास, उन्माद, व्याधि, व्रीड़ा, हर्ष, दीनता, उत्सुकता, स्मृति, विबोध, मोह, चिन्ता, मति, विषाद, धृति, श्रम, शंका आदि संचारी आ सकते हैं। इन सभी का समावेश बहुत थोड़े शब्दों में धनुष-यज्ञ के समय सीता की मानसिक दशा के चित्रण में बड़ी खूबी के साथ हो गया है। आलंबन विभाव का संकेत मात्र दे कर अनुभाव के चित्रण में तुलसी लग जाते हैं, इस से उन के काव्य में रस की व्यापकता बढ़ी है। शृंगार की संयोग और वियोग दो अवस्थाएँ होती है। संयोग शृंगार की भावना कुछ ऐसी है कि उस की विवेचना के लिए अंतरंग विभाजनों की आवश्यकता नहीं। यह भावना अपने आप ही इतनी पूर्ण और सरल है कि इस का विभाजन हो ही नहीं सकता। पर इस के विपरीत, वियोग में इतनी अधिक मानसिक विचित्रता है कि उस की विवेचना कई अंगों में हो सकती है। वियोग की तीन दशाएँ मुख्य हैं। पूर्वानुराग, मान और प्रवास। पूर्वानुराग गुण श्रवण, चित्र-दर्शन, पत्रप्राप्ति, स्वप्न-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि रीतियों से हो सकता है। दमयंती, उषा, रुक्मिणी, सीता आदि के जीवन में पूर्वराग आया है। मान भी लघु, मध्य और गूढ़ तीन प्रकार का हो सकता है। प्रवास भी भूत प्रवास और भविष्य प्रवास दो तरह का हो सकता है। वियोग होने वाला है आगे चल कर क्या होगा ऐसी चिन्ता संयोगावस्था में हो सकती है, यह भविष्य प्रवास के अन्तर्गत आवेगी। अभिलाषा, चिन्ता,

स्मरण, गुण-कथन, व्याधि, जड़ता, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, मूर्छा, मरण आदि वियोग की दशाएँ हैं।

शृङ्गार की प्रत्येक दशा में उग्रता, मरण और अलसता को छोड़ कर शेष सभी संचारी रह सकते हैं। चिन्ता, निद्रा, सुप्त, मद, स्मृति, अमर्ष, गर्व, त्रास, ईर्ष्या, दैन्य, जड़ता, हर्ष, धृति, शंका, श्रम, ग्लानि, निर्वेद, ब्रीड़ा, विबोध, मोह, अपस्मार, आवेग, सुमति, अवहित्थ, तर्क, उन्माद, विषाद व्याधि, चपलता और उत्सुकता का समावेश शृङ्गार में किया जा सकता है। इतने अधिक संचारी और किसी रस में नहीं आ सकते। हास्य में केवल तीन, अद्भुत में चार, वीभत्स में पाँच, वीर में छ, रौद्र में आठ, भयानक में दस और करुण में ग्यारह संचारियों का उपयोग हो सकता है। प्रेम का भाव जितना व्यापक है उतना कोई अन्य भाव नहीं इस से मनुष्य के हृदय की वासना वृत्ति की जितनी तृप्ति इस भाव से होती है उतनी किसी अन्य भाव से नहीं। जीवन की उत्पत्ति स्थिति और वृद्धि, प्रेम के भाव के बिना संभव ही नहीं है। इसी से इस भाव का जीवन और साहित्य में सदैव से राज्य रहा है और शृङ्गार ने रसराज नाम पाया है।

तुलसी ने भक्ति की दृष्टि से दास्य भाव को महत्व दिया है इसलिए उन के काव्य में संयोग शृङ्गार मर्यादा की सीमा के अन्दर ही दबा रह जाता है और संयोग शृङ्गार के पूरे तत्व भी जहाँ आये हैं वहाँ भक्ति भाव भी अपनी तीव्रता सहित विद्यमान है—'तन सँकोच मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेम लखि परा न काहू।' रस को सजाने के लिये तुलसी अलंकारों की योजना भी साथ ही करते जाते हैं जिस से रस की तीव्रता बढ़ती है और चित्र में स्पष्टता की सुंदरता आ जाती है।—

सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जलमाला॥

तुलसी ने मर्यादा की रक्षा के लिए मान का वर्णन नहीं किया है अन्यथा प्रवास के अंतर्गत अभिलाषा से ले कर मरण तक किसी भी भाव को छोड़ा नहीं है।

तुलसी ने राम की उपासना जिस दृष्टिकोण से की है उस में उत्तेजक श्रृंगार के लिए स्थान नहीं रहता इस। उन के ग्रंथों का स्वाभाविक रस शान्त है जिस में निर्वेद की भावना है।तुलसी के पूर्ववती कवियों के काव्यों में वीभत्स श्रृंगार मिलता है। जायसी के पद्मावत में श्रृंगार, श्रद्धा की वस्तु नहीं है। कवि की रूप लिप्सा का विकास उसमें हुआ है, विद्यापति का श्रृंगार निश्चयात्मक रूप में मानवीय श्रृंगार है जिस में शैव परंपरा के श्रृंगार की भी धारा मिली हुई है। रामानन्द (१२६६-१४४८ ई०) तथा वल्लभाचार्य (१४७२-१५३० ई०) के शिष्यों में भक्ति भावना की धारा श्रृंगार के प्रवाह को रीति कालीन कवियों के श्रृंगार से भिन्न बना है। रीति कालीन श्रृंगार देव, (१६७३ ई० १७६७ ई०) मतिराम (१६१७-१६८८ ई०) बिहारी में (१५६५-१६६४ ई०) बिलासी रूप में आता है।

तुलसी में श्रृंगार, शान्त तरलता के साथ आता है। श्रृंगार की पूरी सामग्री जुटा कर उन्हें जो कहना था वह उन्हों ने अपने ढंग से कहा। उन का यह ढंग व्यंजना के उपयोग को सार्थक बनाता है इसी से वे कुछ न कहने पर भी सब कुछ कह गये। शारीरिक प्रेम का अवसर जहाँ अवसर जहाँ आया व्यंजन का उपयोग वहाँ किया मानसिक प्रेम के चित्रण की आवश्यकता जहाँ हुई आध्यात्मिक रूप का सहारा वहाँ लिया। जायसी की भाँति तुलसी ने काव्य की आत्मा को कुलषित नहीं किया है। मानस में श्रृंगार का सब से अच्छा बर्णन बाल सोपान तथा अरण्य सोपान में है। तुलसी ने अपने

हृदय के रस को पूर्ण रूप से अलौकिक आनन्द में निमज्जित किया है, काव्य के रस को आध्यात्मिक बना दिया है इसी उनके शृंगार में कलुष की छाया भी नहीं पड़ने पाई। वियोग शृंगार के अंतर्गत अनेक संचारियों का समावेश करने से जहाँ कहीं प्रेम भाव की पुष्टि हुई है वहाँ आत्मिक प्रेम से उस का परिष्कार भी कर दिया है इसी से उस में शरीर की वासना नहीं रह जाती, वह अलौकिक प्रेम में परिणित हो जाती है। जब तक मिलन की आशा बनी रहती है तब तक प्रेम विप्रलंभ-शृंगार के अंतर्गत ही रहता है जब वह, आशा छूटने लगती है तब प्रेम का रूप करुण हो जाता है। विप्रलंभ शृंगार का स्थाई भाव रति [प्रेम] है करुण-रस का स्थाई भाव करुण है। जिस के साथ हमारी सहानुभूति है उसी के संबंध में करुण की उत्पति होती है।

मानस में कौशल्या का विलाप करुण रस के अंतर्गत आवेगा क्यों कि कौशल्या को चौदह वर्ष तक जीवित रह कर राम से मिलने की आशा नहीं है—फिरिहि दसा विधि बहुरि कि मोरी, देखिऊँ नयन मनोहर जोरी, दशरथ मरण, कौशल्या विलाप, अपने प्रिय राम-लक्ष्मण-सीता के दुख की दुखानुभूति से दुखी अयोध्यावासियों की दशा, सीता हरिण तथा लक्ष्मण-शक्ति के प्रसङ्ग करुण रस के अंतर्गत हैं। अयोध्यावासियों को मिलन आशा अवश्य है किन्तु वे अपने प्रिय राम के राज तिलक के अवसर पर वन चले जाने के दुख से दुखी भी हैं, साथ ही उन्हें उन के बन्य-जीवन के दुखों का भी दुख है। भरतविलाप, करुण रस के अंतर्गत नहीं आवेगा उस में करुण भाव ही है जो कि शृंगार तथा शान्त का संचारी हो कर आया है।

हास्य रस का जहाँ तक प्रश्न है मानस में अट्टहास नहीं, स्मित हास ही है। शान्त रस की भावना उस में

प्रधान है। शान्त का स्थाई भाव निर्वेद है जिस के साथ हास्य अधिक नहीं आ सकता, पर मानस में जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है इस लिए हास्य का होना भी उस में आवश्यक है। मानस में हास्य शूर्पनखा प्रसङ्ग, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, शिव-विवाह तथा नारद-मोह-प्रसंग में आया है। नारद-मोह में वह अपने भव्यतम रूप में है। शूर्पनखा प्रसंग में व्यंग मिश्रित विनोद के रूप में हैं। परशुराम-संवाद में तीखे व्यंगों के कारण कुछ अश्लीलता अवश्य आ गई है पर उस में यह ध्वनि दी गई है कि क्रोधी ब्राह्मण आदर योग्य नहीं। शिव-विवाह में हास्य, स्मित रूप में है।

मानस महाकाव्य है। महाकाव्य में धीरोदात्त नायक होना आवश्यक है और उस का एक गुण है वीरत्व। इसी कारण मानस में वीर रस की भावना बहुत है। आरंभ से ही, वाल्य काल से ही, वाल्य काल से ही राम में वीरत्व के दर्शन होने लगते हे। बचपन में ही सुवाहु और ताड़िका को मार कर उन्हों ने विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की थी।

वीर कई प्रकार के होते हैं। दान वीर, दयावीर, युद्ध वीर तथा धर्म वीर प्रमुख माने जाते हैं। दान और दया के भाव शील के अंतर्गत भी आ जाते हैं। युद्ध के लिये शक्ति का होना आवश्यक है राम दान वीर हैं, उन्हों ने लंका का राज्य जीत कर विभीषण को उसे दान किया। बाली का राज्य जीत कर अंगद को युवराज पद दिया। वे दया बीर भी हैं, उन्हों ने जयन्त पर दया दिखाई, उसे मारा नहीं सबक भर सिखा दिया। इस भाँति राम में शील और शक्ति दोनों विद्यमान हैं। राम, धर्म बीर भी हैं। लोक कल्याण और धर्म की रक्षा के लिये उन्हों ने युद्ध किया। मानस, वैष्णव भावना प्रधान ग्रन्थ है इसलिए उस में राम के स्वरूप में दान बीर और दया बीर की ही भावना

प्रधान है। युद्ध वे तभी करते हैं जब नितान्त आवश्यक हो जाता है और वह भी किसी दूसरे के कल्याण के लिए। वीर रस का वर्णन राम के अतिरिक्त लक्ष्मण में भी हुआ है। इस के अलावा नायक का परोक्ष रूप में वीरत्व दिखाने के लिए प्रतिनायक रावण तथा उस के साथियों में वीरत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस से राम की शक्ति का और भी पता लगता है। इसी कारण विपन्न श्री का करुण रस नहीं वर्णित है वीर रस वर्णित है। रावण की मृत्यु पर मंदोदरी का और मेघनाथ की मृत्यु पर सुलोचना का विलाप करुण रस है किन्तु वह इस अर्थ में विपन्नश्री का करुण रस नहीं है। कि राम का वैर मंदोदरी और सुलोचना में नहीं है। साथ ही वे संम्पन्न श्री ही है और यह इसलिए कि उन्हों ने रावण मेघनाद को राम से वैर न करने की सलाह दी थी। मानस में बीर रस की अभिव्यक्ति बाल सोपान, अरण्य सोपान, सुन्दर सोपान, तथा लंका सोपान के अधिक सुन्दर हुई है।

वीर रस की चरम स्थिति का नाम रौद्र है। उत्साह बढ़ते बढ़ते क्रोध में जब परिणित हो जाता है रौद्र के स्थाई भाव की सृष्टि तब हो जाती है। शत्रु इस भाव का आलम्बन होता है उस की चेष्टाएँ उद्दीपन का काम करती हैं। मानस में रौद्र के प्रसङ्ग वहीं हैं जहां कि धर्म के लिए संघर्ष किया गया है। राम, लक्ष्मण और रावण इस के तीन प्रमुख व्यक्ति हैं। हनुमान ने भी सहायक होने के कारण इस में भाग अवश्य लिया है किन्तु उन का प्रधान कार्य राम-भक्त होने के कारण शान्त भाव का है। फिर राम में भी रौद्र रस का पूरा विकास नहीं हुआ हैं क्योंकि वे धीरोद्धत नहीं, धीरोदात्त नायक हैं। लक्ष्मण, रौद्र की पूर्ति के लिए धीरोद्धत बनाये गये है किन्तु तुलसी सभी प्रकार के भावों को अन्त में शान्त

के छींटे दे कर शान्ति के शिखर पर से कल्याण भावना से सभी भावों को देखने लगते हैं, इसलिये लक्ष्मण में भी रौद्र का उद्रेक वहीं दिखाया गया है जहाँ कि नीति या मर्यादा का उलंघन होते वे देखते हैं। परशुराम-प्रसंग, सुग्रीव-प्रसंग, चित्रकूट-प्रसंग और समुद्र-प्रसंग में लक्ष्मण का यह रूप देखने को मिलता है। रौद्र भावों के अंतर्गत कवि ने अनुभावों का अधिक और स्पष्ट वर्णन किया है इस से शब्द चित्र भव्य उतरे हैं और रस भी स्पष्ट हुआ है। परशुराम सम्वाद में परशुराम का चित्र बहुत सुन्दर उतरा है—

अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहु मत्त-गज-गन निरखिहि सिंह किसोरहि चोह॥

इस प्रसंग में वीर रस ही तेजी के साथ बढ़ते बढ़ते जल्दी ही रौद्र रस में परिणित हुआ है।

रौद्र रस का स्थाई भाव क्रोध होता है। विपक्षी [शत्रु] उस का आलम्बन होता है। शत्रु की चेष्टाएँ, उस के वचन, क्रिया–व्यापार आदि उद्दीपन का काम करते हैं। भृकुटि तने जाना, ओंठ चबाना, हाथ-पाँव पटकना, मुख का विवर्ण होना, नथुने फूल जाना आदि उस के अनुभाव हैं। स्तब्धता, मोह, आदि उस के संचारी हैं।

रौद्र का स्वाभाविक परिणाम, भय होता है। इस का उपयुक्त स्थल युद्ध है; लंका-दहन, मदन-दहन, राम-रावण-युद्ध, धनुष-भंग में भय की उत्पत्ति हुई है, लंका-दहन में भयानक की स्थिति बहुत अच्छी हुई है।

निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी भई सभीत निसाचर नारी।

हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले पवन उनचास।
अट्टहास करि गर्जि कपि, बढ़े लागि आकाश।

भयानक का स्थाई भाव भय है। भयजनक वस्तु इस भाव का आलम्बन होती है। विवर्णता, वाणी की स्तब्धता शरीर की अप्रसन्नता आदि इस के अनुभाव हैं। स्वेद, कंप, रोमांच दीनता आदि इस के संचारी होते हैं।

तुलसीदास को परिणाम में शान्त के अलावा कोई दूसरा रस अभीष्ट नहीं, जग मंगलकारी शान्त भाव का एक छत्र अनुशासन उन्हों ने सब भावों पर दिखलाया है। यह उन की गौतमीय आत्मा की शिव-भावना है। इसी से उन्हों ने रामचरित का आदि वक्ता शिव को माना है और काम दहन करने वाले शिव का अनन्य उपासक राम को ही नहीं रावण को भी बनाया है। परशुराम भी शिव के ही भक्त हैं। व्यवहारिक भेद से ही परशुराम और रावण से राम का संघर्ष चलता है। भयानक रस में अद्भुत के छींटे दे कर तुलसी उसे शान्त की सीमा में लाते हैं। उन का अद्भुत उस शीतल जल का काम करता है जिस के छींटे वीर रस के क्रोध के ताव से उफनाते दूध के उफान को शान्त कर देते हैं। संघर्ष से चन्दन में लग जाने वाली आग से वायु मंडल में सुगन्धि ही फैलती है यद्यपि उस के वृक्षों में लिपटे साँपों के जलने की दुर्गन्ध भी उस में विद्यमान रहती है किन्तु चन्दन की सुगंधि की प्रधानता से वह अपनी उग्र प्रभाव नहीं दिखला सकती।

राम, मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप हैं, इस कारण अनेक अलौकिक कार्य भी करते हैं। अद्भुत के अवसर मानस में जहाँ आये हैं तुलसी उनके मानवीय कार्यों को दिखला कर आश्चर्य की सृष्टि वहाँ करते हैं। इस प्रकार यह रस पूरे ग्रंथ में पाया जाता है। खर-दूषण-युद्ध में सेना का, राम के अनेक स्वरूप देखना, इस से पहिले, बाल्यकाल में

कौशल्या को ब्रह्म दिखलाना, काकभुशुंडि को अनेक ब्रह्मांडों के दृश्य दिखलाना आदि अद्भुत के उदाहरण हैं।

मानस में अद्भुत की सृष्टि इसलिए अधिक हुई है कि तुलसी चाहते थे कि समझें परब्रह्म-राम ही पीड़ितों की रक्षा के लिए धर्म-मर्यादा और लोक कल्याण के लिए व्यक्त रूप में में अवतरित हुए है। व्यक्त रूप में आया हुआ ब्रह्म अनादि अनन्त, अभेद, अखंड, अनूप है। मानस का प्रत्येक पात्र इस बात से परिचित है कि राम, ब्रह्म हैं। इसी से अद्‌भुत रस के भावों की सृष्टि की है, केवल संकेत ही किया है पूर्ण रूप से उस का प्रतिपादन नहीं किया। अद्‌भुत का स्थाई भाव विस्मय है। अलौकिक वस्तु उस का आलंबन है। उस के गुणों का वर्णन उद्दीपन का काम करता है। वितर्क, भ्रांति हर्ष आदि उस के संचारी होते है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, गदगद वाणी आदि उस के अनुभाव हैं।

वीभत्स का वर्णन मानस में बहुत कम है। जहाँ है भी वहाँ अन्य रसों को ला कर उस के प्रभाव को अधिक गहरा नहीं होने दिया है। वीर, शृंगार, अद्भुत, भयानक तथा शांत के जल से उसे भी उज्ज्वल कर दिया है। तुलसी की यह विशेषता है कि वह एक घटना स्थली पर ऐसे-ऐसे भाव चित्रों का विकास राम कथा के बीच में कर देते हैं कि शान्त को छोड़ कर कोई भी रस वहाँ प्रमुख नहीं होने पाता। परशुराम संवाद, बनवास, चित्रकूट-प्रसंग, लंका-दहन, अंगद-रावण-संवाद यहाँ तक कि राम-रावण-युद्ध में भी अनेक रस एक साथ आये हैं। वीभत्स का प्रसंग महाकाव्य और जीवन की आवश्यकता के अनुकूल राम-रावण युद्ध के बीच लंकाकांड में आया है किन्तु वह वहाँ अकेला नहीं है, तुलसी ने मंगलकारी रसों की शक्ति से उसे नियंत्रण के बीच ही आने दिया है—

रघुपति कोपि बान झरि लाई घायल भे निसिचर समुदाई।
लागत बान बीर चिक्करहीं घुर्मि घुर्मि जहँ तहँ महि परहीं।
स्रवहिं सैल जनु निर्झर वारी सोनित सरि कादर भयकारी ॥
कादर भयंकर रुधिर सरिता चली परम अपावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र आवर्त बहति भयावनी।
जल जंतु गज पद्चर तुरग खर बिधि बाहन को गने।
सर सक्ति तोमर सर्प चाप, तरंग चर्म कमठ घने।
बीर परहिं जनु तीर तरु, मज्जा बहु बह फेन।
कादर देखि डराहि तेहि, सुभटन के मन चेन ॥
मज्जहिं भूत पिशाच बेताला। प्रथम महा झोटिंग कराला ॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लैं खाहीं ॥
एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई ॥
कहँरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहुँ अर्धजल मरे ॥
खैंचत गीध आँत तट भये। जनु बंसी खेलहिं चित दये ॥
बहु भट बसहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावहि खेलहिं सरि माहीं ॥
जोगिन भरि-भरि खप्पर संचहिं। भूत-पिसाच-बधू नभ नंचहिं ॥
भट कपाल कर ताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं ॥
जंबु निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुआहिं अघाहिं दुपट्टहिं ॥
कटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं। सीस परे महि जय-जय बोल्लहिं

वीभत्स का स्थाई भाव घृणा [जुगप्सा] है। दुर्गंध, मांस, मज्जा, रुधिर, अशुभ वेस, अशुभ स्वर, अट्टहास आदि का दृश्य इस का आवलम्बन होता है। नाक भौं सिकोड़ना, मुख पर पट देना, मुँह फेर लेना, थूकना आदि इसके अनुभाव है। भय, विस्तृति, मोह, मूर्च्छा आदि इस के संचारी हैं। युद्ध की इस परिस्थिति में राम के पराक्रम और युद्ध न करने की ध्वनि का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही भय, वीर, श्रृंगार, आश्चर्य के बीच ही लंकाकांड के

युद्ध में उपरोक्त दृश्य में वीभत्स की अभिव्यंजना की गई है। मेरु पर्वतों से झरने बहने का चित्र शांत शृंगार का है युद्ध के बीच शृंगार विरोधी रस होता किन्तु शान्त के कारण उस का भी समावेश यहाँ संभव हो पाया है।

तुलसी को उस ज्योति के दर्शन हो गये थे जिस के प्रभाव से जीवन में शांति आती है। वे अपनी भक्ति प्रसूत वाणी को रामचरित सर में स्नान करा चुके थे, उस का सारा श्रम दूर हो चुका था, विश्व को भी इस शान्ति की धारा से वे परितृप्त करना चाहते थे इस लिए उन के जीवन काव्य के आदर्शों का प्रिय रस शांत रहा है। वही उन्हें सब से प्रिय है। मानस में शांत की भूमि किसी सोपान विशेष में न हो कर सर्वत्र हुई है। इस की व्याप्ति दास्य भाव की भक्ति के कारण अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुई है। सूर में भक्ति का उद्रेक शृंगार, वात्सल्य और दास्य के संयोग से हुआ है, तुलसी में सभी रसों ने उस में अपना योग दिया है पर शांत ने उसे विशेष उज्ज्वल किया है।

ईश्वर-भक्ति-निरूपण, गुरु-गौरव, सन्त-तीर्थ-महात्म्य, संसार के मोह-मायादि के प्रति विरक्ति, भगवान् में अनुरक्ति, नवधा-दशधा भक्ति, प्राणि मात्र के प्रति सम भाव की करुणा, सात्विक आहार विहार आदि सिद्धान्त वैष्णव धर्म में ऐसे थे जिन के विवेचन से निर्वेद अथवा सम भाव की वृद्धि स्वतः हो जाती है और शान्त रस के लिए निर्वेद ही स्थाई भाव होता है। संसार की अनित्यता का ज्ञान, उस की आसक्ति में दुख और परमात्मा के स्वरूप चिन्तन में सुख का अनुभव इस भाव का आलंबन है, तीर्थ सतसंग, सद ग्रन्थों का अध्ययन आदि इस के उद्दीपन हैं।

किसी भी वीर में शान्त का अंतरभाव नहीं हो सकता क्यों कि वीरता में देह आदि का अभिमान अवश्य रहता है पर शान्त मे अहंकार की गंध नहीं रहती। जिस में न दुख हो, न सुख हो, न चिन्ता हो, न राग हो, न द्वेष हो, न कोई इच्छा ही शेष हो मुनि जन उसे शान्त भाव कहते हैं। रस और भाव अनौचित्य में प्रवृत्त यदि हुए हों तो उन्हें यथाक्रम रसाभास भावाभास कहते हैं, भाव का अनौचित्य भावाभास है, वेश्या में लज्जा और वीर मे भय की स्थापना भावों का अनौचित्य माना जायगा। हाय और रौद्र में हास और क्रोध का आलम्बन गुरु यदि बनाया गया हो तो वहाँ रसाभास माना जायगा। इसी भाँति कुकर्मों में उत्साह, वीर रस में और नीच पुरुषों में स्थिति शान्त रस में, अनौचित्य के अंतर्गत आवेंगे, वहाँ रसाभास माना जायगा। अनेक संचारियों की सबलता भाव, सबलता है। दो भाव एक साथ उदय हों यह भाव संधि है। अनेक संचारियों का मिश्रण है। भावों की शान्ति भाव शान्ति है।

तुलसी ने अपने मानस में अनेक विचार-धाराओं और मत-मतांतरों का निरूपण किया है। शांकर अद्वैत, रामानुजी विशिष्टाद्वैत, संत मत, शाक्त मत, शैवमत, कर्ममार्ग, ज्ञान मार्ग, योग मार्ग, भक्ति मार्ग, निर्गुण-सगुण सभी की विवेचना वहाँ विद्यमान है। इन सब का रस संचित कर रस विशेष की धारा बहाई गई है। यह रस विशेष आध्यात्मिक शान्ति की शक्ति का शांत रस है।

मानस में संवादों तथा प्रकृति के परिवतनों का उपयोग भी शांत रस की स्थापना के लिए किया गया है। लक्ष्मण-निषाद, राम-नारद, हनुमान-विभीषण, हनुमान-रावण, मंदोदरी-रावण, अंगद-रावण गरुड़-काकभुशुंडि आदि के संवाद

तथा शरद आदि रितुओं के वर्णन से निष्कर्ष के रूप में शांत की ही प्रतिष्ठा हुई है। आत्मचरित के रूप में भी शान्त रस की अभिव्यंजना मानस में स्थान-स्थान पर हुई। शिव-सती, संवाद में ऐसे स्थल अधिक हैं। एक प्रकार से सती की शंका से ही शान्त रस का स्रोत फूटता है मानो, शंकर के शब्दों में स्वयं तुलसी ही बोल रहे हों।

मानस के सब पात्र, राम के उपासक हैं इस लिये सब की कथा के वर्णन में शान्त-रस स्पष्ट रूप से मिल जाता है। सब प्रकार के संबंधों की समाप्ति राम में हुई है इसलिए वात्सल्य पूर्ण श्रृंगार से भी शान्ति की पुष्टि हुई है और श्रृंगार के उद्दीपनों को शांत का उद्दीपन बना कर श्रृंगार का भी परिष्कार किया गया हैं जिस से श्रृंगार की भावना दिव्य और व्यापक हो गई है। बालकांड में परब्रह्म के विराट रूप की व्याख्या उन के निरंजन, निर्गुण स्वरूप का बोध, वात्सल्य की सीमा में राम के नख-सिख द्वारा किया गया है। श्रृंगार के परिष्कार का इस ढङ्ग का उदाहरण वह है जिसमें श्रृंगार के उद्दीपन शान्त के भी उद्दीपन बन जाते हैं। इस सामंजस्य के कारण तुलसी में श्रृंगार कहीं भी कलुषित नहीं होने पाता, बल्कि हृदय की मूल भावना में शान्त भाव के चैतन्य हो जाने से श्रृंगार में दिव्यता और पवित्रता आ जाती है। रसों के सानुपातिक उपयोग की दृष्टि से मानस में सब से अधिक मात्रा में शान्त रस आया है। उस के पश्चात श्रृंगार को महत्व मिला है। श्रृंगार में वियोग की भावना के लिए वैष्णव-भक्ति भावना में विशेषकर सगुण परंपरा की भक्ति भावना में वियोग के लिए अधिक स्थान ही नहीं रहता फिर जिसको परमात्मा की शक्ति, उन के प्रेम में जितना ही अधिक गहरा एक निष्ठ प्रेम, विश्वास रहता है उसके हृदय

में उतनी ही अधिक शान्ति रहती है। मानसिक शान्तिमय जिस की दृष्टि-स्थिति हो गई है उस के जीवन-काव्य में विरह की तीव्र दशाओं के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। प्रसंग-वश जहाँ ये आती भी हैं उन में शीतलता ही रहती है, आग नहीं रहती। अग्निमय विकलता का विरह वैष्णव कवियों की विशेषता नहीं है। वैष्णव-संप्रदाय के कवियों में उस के दर्शन यदि होते हैं तो उस का प्रमुख कारण यह है कि उन की दृष्टि में शरीर तथा इन्द्रियों की भौतिक तृप्ति का अंश किसी न किसी रूप में अभी शेष है, उस का पूर्ण परिष्कार नहीं हुआ है। फिर वह उस विचारधारा की प्रबलता का प्रभाव भी सूचित रती है जिस ने सूफियों की प्रेम भावना को निर्गुण सगुण की सीमाओं के बीच की स्थिति में अपनाया है सूर के भँवर गीत-प्रसंग में बहुत कुछ अंश इसी प्रकार के प्रभाव को सूचित करता हो अथवा ऐसे पद जिन के विरह की प्रचंड आग है सूर के हों ही नहीं या उस समय के रचे गये हों जब उन के हृदय का पूर्ण परिष्कार न हुआ हो।

मीरा, कबीर, जायसी, नानक, दादू, घनानंद आदि के काव्य में विरह की जो तीव्रता है वह बहुत कुछ हद तक शारीरिक अंश की तीव्रता तथा सूफी विचारधारा के कारण आई है। उन की सांस्कारिक जीवन की निजी अनुभूतियाँ भी उस में मिली हैं। वैष्णव-भावना का पूर्ण प्रभाव इन में से जिन कवियों पर हो गया उन के बाद के काव्य में जीवन के महान परिवर्तनों का भी बहुत बड़ा हाथ अवश्य रहा है। इस प्रकार की दुहरी धाराओं के मिलन से उन का काव्य, रहस्यानुभूतियों का काव्य हो गया है जिस में परमात्मा और आत्मा तथा जगत के बीच के सम्बन्ध अनुभूति के रूप

में सदैव अनिश्चित ही रहते हैं। व्यवहार और सिद्धान्त रूप में चाहे उन की स्पष्ट व्याख्या भी वहाँ हो किन्तु अनुभूति के रूप में द्विविधा बनी ही रहती है।

रहस्यमय काव्य श्रीमद्भागवत में भी है अवश्य किन्तु वहाँ वेणु गीत, रास से प्रसंग में जो विरह दशाएँ आदि हैं उन में दैन्य की भावना के साथ प्रेमिक परमात्मा के ऐश्वर्य का गुणगान करुण चाहे हो अग्नि धर्मा नहीं, जलधर्मा है, उस में शान्ति है। रसखान पूर्ण वैष्णव थे इसी से उन में अन्य वैष्णव कवियों की सी अनुभूति की भाँति विरह की भावना कभी भी अग्निधर्मा नहीं हुई है यद्यपि विरह की स्थितियों का काव्य भी उन का कम नहीं है।

तुलसी के विरह में भी शान्ति की शीतलता है जिस के फल स्वरूप मानस में जहाँ कहीं विरह-विलाप के प्रसंग आये हैं वे भौतिक काव्य की विरह-भावनाओं की दृष्टि से अस्वाभाविक से लगते हैं हृदय में विरह की वेदना नहीं है परिस्थिति में उस की लीला भर दिखाई जा रही है। किन्तु भौतिक काव्य की दृष्टि से जो अस्वाभाविकता है वह ही तुलसी की काव्य चेतना की दृष्टि से वैष्णव-भावना के कवियों की एक महान विशेषता भी है।

एक और भी कारण है। राम के जीवन की घटनाएँ अयोध्या सोपान के बाद इतनी अधिक नाटकीय तीव्रता में घटित होती हैं कि राम को विरह के लिए भी अवकास नहीं मिलता। कृष्ण काव्य में भी कृष्ण के जीवन में इस प्रकार की स्थिति उस समय आती है जब कि कृष्ण, मथुरा के राजनैतिक संघर्षों में उलझे रह जाते हैं। राम जब अपने जीवन की घटनाओं में ही उलझे हैं तब तुलसी को भी उन्हें छोड़ कर वियोग

के वर्णन में लग जाना इष्ट नहीं था। इसलिए पंचवटी प्रसंग तक मानस में संयोग शृंगार का ही प्रमुख वर्णन है। वियोग इधर उधर आ अवश्य गया है किन्तु उसे विस्तार नहीं दिया गया।

शृंगार के बाद रामचरित मानस में की करुण अभिव्यक्ति अधिक हुई है। वन गमन प्रसंग, दशरथ मरण, लक्ष्मण शक्ति प्रसंगों में करुण रस आया है। करुण रस की अभिव्यक्ति और भी अधिक हुई होती राम के उत्तर चरित्र को भी मानस में स्थान यदि गया होता किन्तु आदर्शों की रक्षा के कारण उसे एक बहुत सूक्ष्म संकेत मात्र से ध्वनित भर कर दिया गया है। 'दोइ सुत सुन्दर सीता जाए' से जितना समझा जा सकता उतना ही मानस में राम का उत्तर चरित है। अन्यथा अधिक स्थान वह नहीं पा सका है।

करुण के पश्चात मात्रा क्रम तथा घटते अनुपात के हिसाब से रसों का क्रम मानस में इस प्रकार है। वीर और रौद्र समान रूप से हैं। इन से कम भयानक रस है। तब अद्भुत, और हास्य को महत्व दिया है और सब से कम मात्रा में में वीभत्स को अपनाया गया है।

रस मय होने से मानस' प्राणवान काव्य है। रस काव्य की आत्मा है। जीवन की आत्मा भी रस ही है। परब्रह्म का एक नाम रस भी है। भौतिक रसों का आधार, मेघों का जल है जो कि पृथ्वी के विभिन्न स्तरों के संसर्ग और जिह्वा के संपर्क में आने पर षट रस बोध कराता है। काव्य रसों का संबंध भावों भाषा, अभिव्यक्ति और हृदय से है। आध्यात्मिक रस, ज्ञान-वैराग्य और साधना की भूमियों में भक्ति के क्षेत्र में बहता है। तुलसी की महानता इस बात में है कि उन्हों ने

भौतिक रसों को काव्य रसों में और काव्य रसों को आध्यात्मिक रसों में भी परिणत किया है। इस अंतिम स्थिति में जीवन और काव्य को पहुँचा वे देखना चाहते थे इसी लिए मानस में उन्हों ने कहा है—'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष तिन जाना नाहीं।'

रस की सृष्टि व्यंजना से विशेष रूप से होती है। व्यंजना वह ध्वनि है जो शब्दों से एक मानसिक क्रिया के रूप में इंगति होती है।

व्यंजना के पश्चात रस की अभिव्यक्ति में सब से अधिक हाथ गुणों का रहता है। गुण वर्ण-योजना तथा शब्द समन्वय का प्रभाव है। जिस प्रकार का रस उत्पन्न करना हो उसी प्रकार की शब्दावली अपनाई जाती है। शृंगार की निष्पत्ति के लिए कोमल वर्ण यथा सानुनासिक ध्वनियों के शब्द चुने जाते हैं। वीर रस के लिए कर्ण कटु तथा परुष ध्वनियाँ अपनाई जाती है जिन में क वर्ग, ट वर्ग तथा दंत्त वर्णों की बहुलता रहती है ओज गुण की सृष्टि इसी प्रकार होती है। शान्त रस के लिए प्रसाद उपयुक्त होता है यद्यपि प्रसाद की गिनती गुणों के अंतर्गत की जाती है किन्तु वास्तविक रूप में वह अर्थ की स्पष्टता का प्रभाव है शब्द-वर्ण चयन से उस का उतना अधिक सम्बन्ध नहीं जितना अर्थ से। फिर प्रसाद में ओज और माधुर्य दोनों की सृष्टि हो सकती है। रसों में शृंगार, करुणा, हास्य, अद्‍भुत और शान्त कोमल रस हैं। वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स परुष रस हैं। भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने माधुर्य को केवल शृंगार के लिये ही उपयुक्त समझा यद्यपि वह सभी कोमल रसों में काम में लाया जा सकता है। किन्तु यहाँ के साहित्य शास्त्रियों ने शान्त, करुण

और हास्य के लिए प्रसाद की ही व्यवस्था की है। और ओज को वीर, रौद्र, भयानक तया वीभत्स के लिये ही उपयुक्त समझा है किन्तु वास्तव में प्रसाद कोमल और पुरुष सभी प्रकार के रसों में हो सकता है।

काव्य की आत्मा रस यदि है तो गुण उस का शरीर है जो इस के लिए उद्दीपक का काम करता है, काव्य में जब ऐसे शब्दों का प्रयोग होगा जो भाव को उद्दीप्त करते हैं तब रस की भी उद्दीप्ति होगा। तुलसी ने ओज, माधुर्य तथा प्रसाद का सीमित हो प्रयोग नहीं किया है उन का व्यापक विवेक पूर्ण प्रयोग किया है इसी से उन के मानस में रस अधिक व्यापक रूप में आये हैं और काव्य शास्त्र भी व्यापक बन गया है।

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरइ सुजान।
बैर भाव विसराइ रिपु जो मुनि करै बखान॥

काव्य के शरीर-धर्म गुण यदि हैं तो अलंकार उन गुण धर्मों को चमकाने वाले उपकरण है। अलंकारों का मुख्य प्रयोजन भाषा की सौन्दर्य शक्ति को बढ़ाना है। अलंकार कभी तो भाषा के बाद सौन्दर्य को बढ़ाते है, कभी उस की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों में योग देते हैं, कभी नवीन-नवीन वस्तुओं का अपूर्व रूप में परिचय कराते हैं, कभी अर्थ चित्रों को स्पष्ट करते हैं, कभी कल्पनाओं को जगाते हैं, और कभी अपने चमत्कार में पाठक-दर्शन को विस्मय-विमुग्ध भी कर देते हैं। अलंकारों के इन सब कार्यों को तुलसी ने अपने काव्य-लक्ष्य की सिद्धि के लिए किया है। कोई भी उपयोगी अलंकार ऐसा नहीं जो तुलसी की रचनाओं में न मिल जावे। वरवै रामायण, कवितावली, गीतावली में तो अलंकार जगमगा ही रहे हैं, किन्तु मानस में आकाश और पृथ्वी पर एक साथ हैं।

वे वहाँ सूक्ष्म कार्य भी करते हैं और दिखाई दे पड़ सकने वाले कृत्य भी। उपदेश स्थलों तथा सीता रूप वर्णन में मानस के अलंकार इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि अस्वाभाविक अतिशयोक्ति अथवा अत्युक्ति में ही उन की गणना की जा सकती है। 'बूंद अगाध सहें गिर कैसे, खल के बचन संत सहें जैसे' 'सरिता सर निर्मल भय कैसे, निर्मल-ब्रह्म सगुन भय जैसे' आदि प्रसंगों में नैतिकता प्रधान रीति से काम करती है और अलंकार की सूक्ष्मता, भाव के चित्र को रूप आकार की सुन्दरता से रहित कर देती है। सीता के रूप वर्णन में सौन्दर्य सिन्धु से सौन्दर्य लक्ष्मी के उत्पन्न होने की सम्भाव्य पौराणिकता की जितनी प्रशंसा की जाती है उतनी के योग्य वह है नहीं। अलंकार उस प्रसंग में अपने प्रयोजन को ही भूल जाता है। पाठक या श्रोता के हृदय में सौन्दर्य चित्र उन्हीं उपकरणों से अंकित हो सकते हैं जिन की इन्द्रिय ग्राह्य अनुभूति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उन्हें पहले से रहती है। जहाँ उपमेय और उपमान दोनों वर्गों में अप्रस्तुत हो उपकरण सामने लाये जाते हैं वहाँ अलंकार विधान और चाहे जो कुछ कार्य सिद्ध करवा दे किन्तु चित्र में सुन्दरता कदापि नहीं ला सकता। मानस में सीता रूप वर्णन इसी प्रकार का प्रसंग है। किन्तु अलंकारों का इस प्रकार का उपयोग कवि परिपाटी में रहा है। कालिदास जैसे महान कलाकार कवि को भी इस ढंग के अलंकारों से मोह रहा है। रघुवंश में एक स्थल पर उन्हों ने राम-लक्ष्मण के बीच सीता की स्थिति ऐसे ही बतलाई है जैसे कि बृहस्पति और बुद्ध के बीच चन्द्रमा की होती है। तुलसी और केशवदास भी ऐसे प्रसंगों में कहते हैं ब्रह्म और जीव के बीच माया सोह रही है।

तुलसी के मानस में अलंकारों का इस प्रकार का उपयोग

काव्य शास्त्र की दृष्टि से दुरुपयोग ही कहा जा सकता है। मानस में आये अलंकारों को ऐसे स्थलों पर असफल प्रयोग ही कहा जा सकता है। किन्तु इस असफलता में तुलसी का महत्व घट नहीं जाता मानस को काव्य शास्त्र अथवा अलंकार शास्त्र का आदर्श ग्रन्थ वे नहीं बना रहे थे। फिर मानस में अलंकारों का ऐसा भी प्रयोग है जो कि तुलसी की अपार शक्ति का द्योतक है। तुलसी को रूपक बाँधने में सिद्धि मिली है। रामचरित्र मानस का रूपक जितना लम्बा उपयुक्त तथा सप्रयोजन है उतना लम्बा रूपक शायद ही अभी तक कोई इतनी सफलता से बाँध सका हो।

लम्बे रूपक बाँधना अधिक कठिन नहीं है। मैथ्यू अनौंल्ड ने भी खूब लम्बे रूपक बाँधे हैं किन्तु अन्त तक सफलता के साथ निभा सकना आसान काम नहीं है। तुलसी की महानता इस बात में है कि जिस बात को प्रतिज्ञा रूप में प्रस्तुत करते हैं उस को कितने जटिल विस्तार के बीच भी भूलते नहीं हैं और एक रस निभा ले जाते हैं। यह उन की एक बहुत भारी विशेषता है।

सूर में भी यह विशेषता पाई जाती है। वे उत्प्रेक्षा के सिद्ध कवि हैं। उनकी उत्प्रेक्षाएँ सब से सुन्दर वहाँ बनी हैं जहाँ उन्हों ने व्यंजनाओं से भी काम लिया है।

तुलसी ने अलंकारों में लक्षणाओं और व्यंजनाओं का भावपूर्ण उपयोग जहाँ किया है वहाँ उन की उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भी सुन्दर बन पड़ी हैं पर ऐसा बहुत कम हुआ है। तुलसी ने अलंकारों की योजना अलंकारों के लिए नहीं की। कविता लता को स्वर्णाभरणों से शोभित करना केशव को भाया, तुलसी ने कविता कामिनी को वन्य फूलों से सजाया

है। उन की कविता अधिकांश स्थलों में बनदेवी की भाँति शोभायमान है। राजकुमारी का रूप भी वह कभी कभी धारण कर लेती है। गहनों के भार के नीचे दबी वह सिसकती नहीं है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उन के ग्रन्थों में अलंकारों की योजना स्वाभाविक है और भावों को स्पष्ट करने में सहायक हुई है।

भाषा काव्य शैली और छंदों का जहाँ तक प्रश्न है तुलसी ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से चली आती हुई पौराणिक काव्य परम्परा को मानस में और अन्य प्रकार की मिश्रित परम्पराओं को अन्य ग्रन्थों में अपनाया है। भाषा के प्रयोग में वे उदार वृत्ति के रहे हैं इसलिए उन की रचनाओं में साहित्यिक तथा जानपदीय दोनों प्रकार की भाषा का सम्मिलन हुआ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी, खड़ी बोली, व्रज भाषा, बुन्देलखंडी, भोजपुरी, अवधी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्द तथा प्रयोग उन के ग्रंथों में मिलते हैं मानस में भी उन का अभाव नहीं। मानस के लिए उन्हों ने संस्कृत और अवधी भाषा को तथा संस्कृत से आती हुई प्रबन्ध काव्यों की परम्परा और अपभ्रंश से आती हुई दोहा चौपाई शैली को अपनाया है। दोहा, चौपाई के अलावा मानस में उन्हों ने सोरठा, चवपइया, हरिगीतिका, त्रिभंगी, त्रोटक, तोमर, मालिनी, वशंस्थ, वसंत तिलका, इन्द्रवज्रा, भुजंग प्रयात, शार्दूल विक्रीड़ित, नगस्वरूपिणी, रथोद्धता, स्रग्धरा और अनुष्टप छन्दों का प्रयोग किया है। ये छन्द यथा स्थान भावों और प्रबन्ध विधान के मेल में ही रक्खे गए हैं।

मानस, मानव हृदय के भावों की मनोवैज्ञानिक चित्रावली है जिस में व्यंजनाएँ अपने अर्थ व्यापार से सजीव प्राणों की

ध्वनियाँ भर देती हैं। मानस का कोई सोपान ऐसा नहीं जिस में मनोवैज्ञानिक चित्रावली में व्यंजनाएँ न विद्यमान हों। बाल सोपान के आरंभ में सब से पहला मनोवैज्ञानिक थल तो वहीं आ जाता है जहाँ तुलसी अपनी दुर्बलताओं की व्याख्या करने के पश्चात, विश्व के एक महान काव्य का आरंभ करते हैं। उस महान् काव्य के राम के दिव्य चरित्र को बताते हैं जो सप्त दीप नवखंडो तथा अखिल ब्रह्मांडों को स्वामी होते हुए भी मानव दशरथ का पुत्र बना, जिसने रावण जैसे पराक्रम-शाली सम्राट की त्रिलोक कँपा देने वाली सत्ता का अंत कर कर ऐसे राज्य की स्थापना की जो आज भी सुख की कल्पना का आदर्श है।

मानस में सती मोह, नारद मोह, पुष्पवाटिका में पूर्वराग, वनगमन के अवसर के संवाद, सुमंत तथा भरत की मनोव्यथा, सीता श्रृंगार, अंगद रावण संवाद मंदोदरी-रावण संबाद, नंदीग्राम में भरत की दशा आदि प्रसंगों के एक से एक सुन्दर मनोवैज्ञानिक भाव चित्र रामचरित मानस में विद्यमान हैं। बाह्य भावों का, प्रकृति से स्थूल व्यापारों का चित्रण तो एक सामान्य कवि भी कर सकता है। जो कवि, मानसिक संघर्ष का जितना ही अधिक व्यापक सूक्ष्म चित्रण कर पाता है वह उतना ही महान गिना जाता है, उस की रचनाएँ उत नी ही स्थाई मानी जाती हैं।

सूर की महानता का रहस्य इसी बात में छिपा हुआ है। कृष्ण और राधा के अनेकों चित्र जयदेव अपने गीत गोविन्द में और विद्यापति अपने पदों में उतार चुके थे फिर भी सूर-दास के पदों ने जनता को मुग्ध कर लिया। सूरदास ने भागवत की परंपरा को अपना कर जयदेव और विद्यापति

द्वारा किया गया काम ही किया, किन्तु एक नवीन विशेषता के साथ। अपने हृदय से उन्हों ने अपत्य प्रेम को मूर्तिमान किया। मानसिक दशाओं का वह चित्रण किया जो पृथ्वी और स्वर्ग के यथार्थ और आदर्श को एक साथ अपने में समेट लेता है जिस में देश काल और परिस्थिति विद्यमान होने पर भी सीमाएँ नहीं बन जाती हैं संगीत और स्वर, भाव और अभिव्यक्ति एक हो जाते हैं।

बिहारी, भाषा प्रयोग में सूर से भी आगे बढ़े हुए हैं किन्तु बिहारी जहाँ अनुभावों और संचारियों को लेकर ही रह जाते हैं वहाँ, सूर भावों को हद तक पहुँचाते हैं लाक्षणिक अलंकारों और व्यंजनाओं का प्रयोग करते हुए।

सूर में काव्य शास्त्र के उपकरणों के विधानों का अभाव नहीं किन्तु काव्य के संपूर्ण अंगों सहित उस भाव का रसमय विकास तुलसी की विशेषता है। कथा वस्तु को सर्व जनीन बनाते हुए भी मनोवैज्ञानिक चित्रावली में व्यंजनाओं का कुशल प्रयोग तुलसी की वह विशेषता है मानस की वह सफलता है जिस पर इन दोनों की संपूर्ण साहित्यिक ख्याति टिकी हुई है।

(४)

विनय-पत्रिका, तुलसीदास जी की ऐसी रचना है जिस का सम्बन्ध उन के अपने हृदय के भावों और मष्तिक के विचारों स ही अधिक है। सामाजिक मान्यताओं की वह सघन बीहड़ता उस में नहीं जिस के कारण रामचरित मानस हृदय और बुद्धि दोनों के लिए हिम शैल जैसा गहन और विधु वन जैसा कानन कठिन भयंकर भारी हो जाता है। उस में 'छहों शास्त्र सब ग्रन्थन को रस' उस रूप में नहीं जिस से

'मानस' मानस न रह कर सागर बन गया। कैलाश का मानस आर्य-संस्कृतिक का विंध्या यदि रामचरित मानस का विंध्या वेद और लोक, ब्रह्म और जीव, निर्गुण और सगुण, प्रबन्ध और काव्य, प्रतीक और कथा, संस्कृत और अवधी, दोहा और चौपाई का सेतु है तो तुलसी का मानस, भक्त हृदय का विंध्या, साधु और गृहस्थ, दुख और सुख, समाज और व्यास संस्कृति और ब्रजभाषा, राग और रागनियों का करुण प्रवाह विनय पत्रिका है, जिस में तुलसी दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से सताये तुलसी की आर्त पुकार है। 'समस्त मानव जाति का प्रतिनिधि बन कर,' कलयुग से सताये जाने पर जो पत्रिका (जो विनयावली) राम के दर्बार में तुलसी ने जहाँगीर के राज्य काल में भेजी उसी का नाम विनय पत्रिका है। अगाध पांडित्य, अर्थ गांभीर्य, शब्द संघटन, प्रेम प्रमोद, विश्व-दर्शन और करुण क्रंदन, दशधा भक्ति और भाषा-क्लिष्टता इस पत्रिका की विशेषताएँ हैं। विनय-पत्रिका की उत्पत्ति के मूल में ही भौतिक यातनाओं का हाथ है जिसे कलियुग द्वारा सताया जाना जो कहा गया है जहाँगीर के राज्य काल के महामारी, अन्नकाल, अत्याचार आदि प्रकोप वह है जिन में हजारों लाखों स्वाहा हुए। रसखान और तुलसी भी एक साथ रुद्र की नगरी काशी में समाप्त हो गये। १६२३ सन् की यह बात है। १६१४ से यातनाएँ शुरू हो गई थीं, लगातार दस वर्षों तक उन का सामना कर सकने की सामर्थ्य किस में थी? विनय पत्रिका तुलसी के भक्त हृदय की करुण अभिव्यक्ति है। भक्ति का मूल तत्व है महत्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने अपने लघुत्व की अनुभूति का उदय होता है—

राम सो बड़ो है कौन, मो सो कौन छोटो,
राम सो खरो है कौन, मो सो कौन खोटो।

भक्त को जिस प्रकार अपने प्रभु का महत्व वर्णन करते हुए आनन्द आता है उसी प्रकार का अपने लघुत्व के निर्देश में भी। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उस की असामर्थ्य का, उस की दीन दशा का बहुत साफ चित्र दिखलाई देता है। प्रभु के अनंत शील और पवित्रता के सामने उसे अपने में दोष और पाप ही पाप दिखलाई पड़ते हैं और इन का जी खोल कर वर्णन कर वह संतोष लाभ करता है। इस प्रकार अपने पापों की सूची देने से जी का ही नहीं सिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है, उस के सुधार का भार उस पर ही न रह कर बँट सा जाता है। इस अवस्था के पद विनय पत्रिका में बहुत अधिक हैं।

विनय पत्रिका, क्रम बद्ध ग्रन्थ है। देवी देवताओं की वंदना आरम्भ में की है। उस के बाद किसी पद में प्रभु का प्रभुत्व, किसी में औदार्य एवं शील किसी में जीव का असामर्थ्य किसी में आत्म ग्लानि तो किसी में मनोराज्य दिखाया गया है। किसी पद में अपनी राम कहानी सुनाई गई है तो किसी में अत्याचार पीड़ित जन-समाज का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया है। पत्रिका प्रभु तक पहुँचनी चाहिए इस लिए हनुमान, शत्रुघ्न, लक्ष्मण और भरत की प्रार्थना की है। सवक होने के कारण अगुआ बनने का साहस किसी को न हुआ। सब में लक्ष्मण ही अधिक ढीट थे उन्हीं ने पत्रिका प्रस्तुत की। और राम ने 'सुधि मैं हूं लही है' कह कर उस पर सही भी कर दी—

पत्रिका के रूप में लिख कर जिस प्रकार किसी भी राज

दरबार में अर्जी भेजी जाती है वही क्रम नियमावली विनय पत्रिका में भी है।

विनय पत्रिका के सब पद विविध विषयों से भरे हैं। विनय का विशेष स्थान इसलिए है कि तुलसी ने अपने व्यक्ति गत विचारों का जितना सुन्दर चित्रण इस में किया है उतना सम्भवतया दूसरे ग्रन्थों में नहीं। कवि को अपने व्यक्ति गत विचारों का कोई अवसर यदि प्राप्त हुआ है तो विनय पत्रिका में। इसी कारण विनय पत्रिका में उनके व्यक्तिगत जीवन के महान आदेशों का निरूपण है।

तुलसी प्रथमतः प्रबन्ध लेखक हैं क्यों कि उन के इष्ट देव की कथा प्रबन्धात्मक है। कृष्ण की भाँति उन का जीवन छोटी छोटी घटनाओं का समूह नहीं है। प्रत्युत राम के जीवन की एक घटना दूसरी घटना से बद्ध है। इसलिए तुलसी किसी प्रकार भी गीति काव्य के द्वारा इतनी सफलता नहीं प्राप्त कर सकते थे जितनी सूर ने कृष्ण के जीवन में प्राप्त की। गीतावली में भी तुलसी ने राम के जीवन का विशद और भक्ति मय चित्रण करने का प्रयत्न किया किन्तु उन की गीतावली केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सफल कही जा सकती है। रस, अलंकार आदि की दृष्टि से सफल कृति मानी जा सकती है, लेकिन जहाँ तक कथा का प्रवाह है घटना वैचित्र्य का सवाल है गीतावली वहाँ कुछ प्रसंगों का संकलन मात्र है, उस में प्रबन्धात्मकता नहीं है।

तुलसी के पूर्व हिन्दी साहित्य के इतिहास में गीतगोविन्द से प्रभावित, विद्यापति (१३६०-१४५०, ई०) और कबीर (१३९८-१४४८ ई०) दोनों ने गीति काव्य की सृष्टि भक्ति प्रवाह के प्रारम्भ में की। उस समय तक न तो सूरदास

(१४७२-१५८३ ई०) न अष्टछाप के कवियों ने पुष्टि मार्ग का प्रचार किया था और न तुलसी (१५३२-१६२३ ई०) ने रामचरित मानस (१५७४ ई०) की रचना की थी। विद्यापति के सामने राधाकृष्ण तथा शिव पार्वती का वह स्वरूप था जिस का विकास कामशास्त्र, नाट्य शास्त्र और उस से प्रभावित माधुर्य-भक्ति-शास्त्र के प्रभाव में हुआ था और जो शृंगारी परंपरा के शास्त्रीय पद्धति के अनुयाई, हिन्दी कवियों द्वारा बाद में अपनाया गया। उस में वयः सन्धि, अभिसार, दूती शिक्षा आदि अनेक प्रकार की काम सौन्दर्य-शास्त्रीय पद्धतियों का निरूपण था। विद्यापति उस सौन्दर्य के समीप थे जिस का प्रस्फुटन वासनामय स्वस्थ शरीर में सहज स्वाभाविक रीति से बराबर होता चला आया है। उन के लिए ऐसे सौन्दर्य की उपासना ही अपने उद्दाम यौवन काल में भक्ति थी। शारीरिक शक्तियों के क्षीण हो जाने पर सभी परमात्मा के भक्त हो जाते हैं, सभी में संसार के जीवन के प्रति विरक्त और आध्यामिक जीवन के प्रति अनुरक्ति हो जाती है, विद्यापति में भी हुई। कबीर ने निराकार ब्रह्म का निरूपण विरहानुभूति और अद्वैत वेदान्त के सूफी तथा नारदीय भक्ति के सम्मिलन से योगी दार्शनिक भक्त रामानंद के शिष्यत्व में पाठ सीख कर अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल स्वेच्छा से किया। उस में दार्शनिक और आचार शास्त्रीय पक्ष उतना प्रबल नहीं था जितना चिन्तन प्रधान ज्ञान योगी भक्ति का। तुलसी के सामने हिन्दी-गीति काव्य का उद्देश्य और आदर्श सूरदास के पूर्व के इन कवियों के काव्य के रूप में अत्यन्त निर्बल था। संस्कृत साहित्य से तथा सूरदास से प्रेरणा प्राप्त कर गीति काव्य की ओर तुलसी बढ़ते दिखलाई देते हैं। सूरदास के पदों का पहला संकलन सूरदास की मृत्यु (१५८३ ई

के दो तोन वर्ष बाद और रामचरितमानस की समाप्ति (१५७६ ई०) के आठ दस वर्ष बाद १५८५-१५८६ ई० के लग-भग अकबर के राजत्वकाल (१५५६ई-१६०५ ई०) में अब्दुल रहीम खानखाना की अध्यक्षता में हुआ था। सूर सागर की ऐसी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं जो सूरदास की मृत्यु के थोड़े ही वर्ष बाद की हैं। तुलसी का मथुरा वृन्दावन में सूरदास से भेंट करने का उल्लेख यदि साहित्य मे मिलता है तो इस बात का भी कि सूरदास, प्रयाग होते हुए काशी गये और उन्हों ने तथा रसखान ने तुलसी का सतसंग कुछ समय तक अवश्य किया। रसखान की तो मृत्यु भी तुलसी के साथ काशी में १६२३ ई० में हुई प्रतीत होती है। मानस सुनने का सौभाग्य भी ग्रंथ समाप्ति के बाद ही रसखान को हुआ था। तुलसी पर सूर का प्रभाव कवितावली से ही आरम्भ हो जाता है जिसे मैं कारण-वश १५७६ ई० के बाद से आरंभ हो १६२३ ई० तक समाप्त हो जाने वाली रचना मानता हूँ। तुलसी के उन ग्रन्थों के रचना काल के विषय में जिन में संवत नहीं दिया गया है अथवा जिन की तिथि अंकित प्राचीनतम प्रतियाँ अब तक उपलब्ध नहीं हुई हैं, मेरे विचार डाक्टर माताप्रसाद जी गुप्त से नितान्त भिन्न हैं। मैं उन के तर्कों और उन से निकाले गये निष्कर्षों से सहमत नहीं हूँ। कवितावली के पश्चात् गीतावली में सूर का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। गीतावली मेरी दृष्टि में तुलसी के जीवन काल के सब से प्रसन्न-सुख-शान्ति मय किन्तु बढ़ी हुई अवस्था की रचना है। उस की रचना १५६० ई० के लगभग होनी चाहिए। विनयावली [विनयपत्रिका] गीत काव्य शैली में तुलसी की उस सफलता को घोषित करती जिस में सूर के प्रभाव से वे मुक्त होकर अपने निजी स्वरूप को स्थापित कर सके हैं किन्तु विनय पत्रिका भी सूर के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है। विरल

चाहे हों उस में ऐसे पद अवश्य हैं जो कि विचार, भाव, शैली तथा अभिव्यक्ति में सूर के पदों की छाया लिए हुए हैं। सूरदास के विनय के पदों और रसखान के कवित्त सवैय्यों की छायाएँ विनय पत्रिका में विद्यमान हैं। वे ऐसे ही नहीं आ गई हैं इन भक्तों के पारस्परिक संसर्ग की कहानी कहने वाले इन पदों में उनके जीवन इतिहास के परिच्छेद भी छिपे पड़े हैं।

दार्शनिक विचार धाराओं और सामयिक जीवन के चित्रों को भी गीति काव्य शैली में ले आने का श्रेय तुलसी को सूर और रसखान की अपेक्षा अधिक है। यद्यपि ये विषय, गीति काव्य के उपयुक्त नहीं पड़ते किन्तु तुलसी की विशेषता इसी में है कि उन्होंने आधुनिक युग के विराट कवि रवीन्द्र नाथ की भाँति ही सामान्य से सामान्य समझे जाने वाले विषयों को भी अपनी सहृदयता से प्राणवान बना दिया है।

तुलसीदास के समकालीन पुष्टिमार्गीय कवियों ने गीति काव्य की सृष्टि अवश्य की पर उस गीति काव्य में व्यक्तिगत भावना के लिए स्थान कम था। तुलसी से पहले गीति काव्य में व्यक्ति गत भावनाओं की रम्य एकात्मता यदि किसी में पाई जाती है तो राजस्थान की विरह कोयल मेघ निर्झरी मीरा में। मीरा को आधुनिक इतिहास तुलसी का समकालीन और सोलहवीं शताब्दी में ठहराता है किन्तु जहाँ तक मीरा विषयक सामग्री का अध्ययन मैं कर पाया हूँ उस से यही दिखाई देता है कि मीरा, कबीर, जायसी, रैदास और विद्यापति की समकालीन थी और ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में हो उन की जीवन लीला समाप्त हो गई थी। तुलसी दास जी के जन्म से भी पहले वह इस पृथ्वी से विदा हो चुकी थीं। तुलसी की कवितावली और विनयावली की कविताओं को मीरा के

लिए पत्र रूप में भेजने वाली बात उस हालत में भी सही नहीं ठहरती जब कि मीरा की जीवन अवधि आधुनिक इतिहासकारों की मान्यता को मानते हुए १४९८ ई० से १५८६ ई० तक हम मान लेते हैं। १५४६ ई० तक तुलसीदास जी चौदह वर्ष के ही हो पाये थे। फिर कवितावली और विनयावली १५७६ ई० के बाद की रचना हैं, उसके पहले की किसी हालत में नहीं। तुलसी और मीरा विषयक पत्र व्यवहार की अनुभूति का मेल बिठलाने के लिए ही भक्त माल के टीकाकार सीताराम-शरण भगवान प्रसाद ने मीरा की निधन तिथि को १६२४ ई० तक खींचा ताना किन्तु उन का वह प्रयास किसी को मान्य नहीं हुआ। आधुनिक युग के विद्वान श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी द्वारा अपनायी गई मीरा की निधन तिथि १६६०-ई० की मान्य हो सकती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी मीरा की मृत्यु तिथि को १५६३ ई० तथा १५७३ ई० के बीच लाने का प्रयत्न किया था और लाला कन्नोमल ने १५६३ ई० को स्वीकार किया था। इन सब प्रयत्नों के पीछे वह अनुश्रुति काम कर रही थी जिस के अनुसार मीरा और तुलसीदास जी के पत्र व्यवहार विषयक किम्वदन्ती चल पड़ी थी और आज तक भी चली आ रही है। मीरा का गीति काव्य इस बात का प्रमाण है कि पुष्टि मार्ग के कवियों के आने के पहिले ही हिन्दी में गीति काव्य परम्परा उस परिपक्व अवस्था को पहुँच चुकी थी जिस के दर्शन हमें मीरा के भजनों में होते हैं। अपभ्रंश प्राकृत और पुरानी हिन्दी के साहित्य को यदि छोड़ भी दें तो भी हिन्दी गीति काव्य के आरंभिक-दर्शन ईसा की नौवीं-दशवी शताब्दी से ही राजस्थान, पंजाब सीमान्तप्रदेश, हिमवंत, नैपाल की तराई, विहार, उड़ीसा,

और बंगाल में व्याप्त सिद्धों, नाथों, शैवों, शाक्तों, वैष्णवों, सूफियों, चारणों तथा शास्त्रीय मुक्तक पद्धति के शृंगारी कवियों तथा जन जीवन के गीतों में होते हैं। संस्कृत साहित्य दक्षिण के आल्वार संतों, दार्शनिक आचार्यों महाराष्ट्र, गुजरात के संतों आदि को हम इस प्रसंग में कदापि नहीं भूल सकते। सूर के पद इस बात के साक्षी हैं कि सूर वल्लभ संप्रदाय के संकीर्ण घेरे में ही सीमित नहीं रहे उन्हों ने सूर्य की भाँति अपनी विराट आत्मा को परम ऐश्वर्यमयी प्रभु के अन्तः तेज और उस की असीम गौरव शालिनी शक्ति राधिका के सम्मुख अत्यंत कातर हृदय से अपने दैन्य को उसी उदारता से प्रकट किया है जिस उदारता से उन की शृंगारी तथा किशोरावस्था की गोपाल लीलाओं तथा पराक्रमशाली प्रौढ़ावस्था के तेजोमय कार्यों से संबद्ध लीलाओं के गुणगान में अपने माधुर्य ओज को व्यक्त किया है। बाल स्वरूप मे विराट के दर्शन सूर ने किये हैं तो दैन्य भाव को जीवन का आदर्श मान कर चलने वाले तुलसी ने अपनी कौशल्या से अपने शिशु राम में विराट विष्णु की विनीत वंदना उसी प्रकार करवाई है जिस प्रकार सूर ने अपनी देवकी और अपनी यशोदा से अपने कन्हैया सुदर्शन चक्रधारी चतुर्भुज विष्णु के प्रति। तुलसीदास के आराध्य राम शक्तिशाली थे साथ ही मर्यादा पूर्ण। इस लिए गीतिकाव्य में आत्म निवेदन की भावना को दास्य भक्ति का जितना अधिक सहारा मिला उतना कृष्ण की सख्य भाव की भक्ति के द्वारा नहीं। इस लिए विनय पत्रिका का गीति काव्य समकालीन सभी गीति काव्यों से श्रेष्ठ है।

तुलसी की विनयपत्रिका आत्मानुभूति के विभिन्न विभागों में विभक्त हो गई है जिस से वे अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित

कर सके हैं। 'मानस' में राम कथा ही सरस और सुन्दर है व्यथांश नहीं। राम कथा की पूर्णता से मानस में तुलसी की वेदना-तुलसी ही नही मानस के पात्रों की वेदना भी सो जाती है। और वेदना की तीव्रता ही सुन्दर काव्य के लिए अपेक्षित गीति काव्य का वही प्राण है। तुलसी की सभी रचनाओं में विनयपत्रिका ही सर्वोत्कृष्ट गीतिकाव्य है।

तुलसी ने माधुर्य भाव को भक्ति के आदर्श के लिए नहीं अपनाया। मानस कवितावली, बरवैरामायण, रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल में कथा प्रसंग के आग्रह तथा सौन्दर्य के कारण वह अपनाया गया है उन ग्रन्थों में तुलसी ने अपनी आदर्शवादिता, काव्य-कौशल, पांडित्य, दार्शनिकता, नैतिक मर्यादावादिता और सामंजस्य बुद्धि तथा रचना कौशल का चातुर्य दिखलाया है इसलिए माधुर्य भाव का भी उन में आ जाना स्वाभाविक था। उस की भव्य चुटकी व्याज स्तुति तथा दंन्य विनय के रूप में विनयपत्रिका में भी विद्यमान है—

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, वेद बड़ाई भानी!
निज घर की घर-बात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी!
सिव की दई सम्पदा, श्री शारदा सिहानी!
जिन के भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निशानी!
तिन रंकन को नाक सँवारत, हौं आयो नकवानी!
दुख दीनता दुखी इन के दुख, जाचकता अकुलानी!
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी!
प्रेम-प्रसंसा-विनय-व्यंगजुत, सुनि विधि की वर बानी!
तुलसी मुदित महेश मनहि मन, जगत-मातु मुसकानी!

कबहुंक अंब अवसर पाई
मेरि औ सुधि द्याइबी कछु करुना-कथा चलाइ,
दीन सब अँग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ,
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ,
बूझि हैं 'सो है कौन? कहिब नाम दसा जनाइ,
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरि औ बनि जाइ,
जानकी जग जननि जन की, किये बचन सहाइ,
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ।

किन्तु तुलसी ने दास्य भाव को ही अपने जीवन-प्राण के लिए अपनाया है। विनय पत्रिका में ही वह सब से अधिक प्रधान हो पाया है यद्यपि व्याप्त है वह सभी ग्रन्थों में। माधुर्य और सख्य भाव में प्रेम की पूर्ति के लिए अनेक आश्रय लेने पड़ते हैं। मीरा, सूर, जायसी आदि के काव्य में यह बात देखी जाती है। उनके काव्य में प्रेम-पूर्ति के लिए तन्मयता अनेक स्थाई भावों में बँट गई है। माधुर्य और सख्य भाव में क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है इस लिए विरह की तीव्रता के लिए अधिक स्थान बन जाता है। विरह भावना के ही गीत वहाँ सब से मर्मिक हो पाते हैं। उपालंभ, गीत भी उन्हीं की लपेट में आ जाते हैं। तुलसी की विनयपत्रिका में इस प्रकार का सब से महत्व पूर्ण पद वह है जिसमें उनकी अद्वैत विचार धारा समाधान करने के लिए पीछे से आ तो जाती है किन्तु क्षण भर के लिए विराट विश्व चित्रावली को देख विस्मय विमुग्ध हो ही जाते हैं—

केशव कहि न जाय का कहिए!
देखत तव रचना विचित्र हरि! समुझि मनहि मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।

धोये मिटै न मरै भीति दुख, पाइय इह तनु हेरे।
रवि-कर-नीर बसै अति दारुण मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै!
और हरि से भ्रम निवारण का जतन पूछ ही बैठते हैं—

हे हरि! कवन जतन भ्रम भागै!

देखत सुनत, विचारत यह मन, निज सुभाउ नहिं त्यागै।
भगति, ज्ञान, वैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहउ, देउ कछु, असि वासना न उर ते जाई।
जेहि निसि सकल जीव सूतहिं, तव कृपा पात्र जन जागै।
निज करनी विपरीत देखि मोहिं समुझि महाभय लागै।
जद्यपि भग्न मनोरथ विधि बस, सुख इच्छत दुख पावै।
चित्रकार कर हीन जथा स्वारथ बिनु चित्र बनावै।
हृषीकेस सुनि नाउँ जाउँ बलि, अति भरोस जिय मोरे।
तुलसिदास इन्द्रिय संभव दुख, हरे बनहिं प्रभु तोरे।

संसार की रमणीयता और दार्शनिकों द्वारा अंकित उस के भयंकर रूप दोनों ही एक साथ सामने आ जाते हैं। मन भारी भ्रम में पड़ जाता है। जो प्रत्यक्ष है जिस की सुन्दरता सामने है उस में मन सहज रूप से रमना चाहता है, उधर से चेतावनी आती है—सावधन! अनविचार से ही यह रमणीय दीखता है अन्यथा 'संसार भयंकर भारी है।' तुलसीदास क्षण भर के लिए उलझन में पड़ जाते हैं किन्तु तुरन्त ही उन्हें दिखलाई देता है यह भ्रम की अधिकाई, रघुपति-भगति और संत संगति से ही नसाय सकती है—

है हरि यह भ्रम की अधिकाई !
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय संदेह न जाई।
जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाय मृग-वारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे।
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुं न पार पावै सो, जब लगि आपु न जागै।
अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम-संतोष-दया-विवेक ते, व्यवहारी सुखकारी।
तुलसिदास सब विधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति, संत संगति बिनु, को भव त्रास नसावै।

इसलिए वे कामना करते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो,

श्री रघुनाथ कृपा-कृपा तें संत सुभाव गहौंगो :
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो :
पर हित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो :
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो :
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो :
परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि-भगति लहौंगो।

उन की दृष्टि में जीवन और काव्य दोनों ही दैन्य भाव की सिद्धि से बनते हैं। इस लिये भी उन्हों ने दास्य भाव को अपनाया है। दास्य भाव को उन्मुक्त रूप में वहने का अवसर विनयावली में मिला है। माधुर्य और सख्यभाव में भावनाएँ यदि विभाजित हो जाती हैं तो दास्य भाव में वे एक के ऊपर ही केन्द्रित रहती हैं। इस लिए उन में अनुभूतियाँ घनी हो जाती हैं। इन घनी भूतियों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति से

ही विनय पत्रिका में इतनी मार्मिकता आ पाई है। राग-रागिनियों के उपर्युक्त चयन से और ब्रजभाषा को अपनाने से उस में प्रवाह आया है।

तुलसी का भाव जगत बहुत विकसित है। उस में अद्वैत दर्शन और अन्य सम्प्रदायों के सभी मतों की बातें उसी भाँति समा जाती हैं जिस भाँति सागर में नदियाँ, आकाश में दुख-सुख, पवन में जल और जल में पृथ्वी की मलिनता। पौराणिक कथाओं के आश्रय से, प्राचीन संतों की गाथाओं से, राम की कथा से वे अपनी सब बातों को कहते हैं। ईश्वरोन्मुखी मानव हृदय ही उन का लक्ष्य है। वही उन का शस्त्र है। 'चरम महत्व के इस भव्य, मनुष्य ग्राह्य रूप के सन्मुख भव-विह्वल भक्त हृदय में जो भाव तरगें उठती हैं उन्हीं की माला विनय पत्रिका है।' विनय पत्रिका में काव्य शक्ति का सौन्दर्य स्वाभाविक रूप में स्वतः चला आया है। अपने हृदय के क्रंदन की शांति के लिए ही तुलसी ने विनय पत्रिका की रचना की है। तुलसी की शैली इतनी प्रौढ़ थी कि उस में अनेकों काव्योचित गुण अपने आप ही आ गये हैं।

शान्त रस के सर्वोत्कृष्ट प्रतीक तुलसी हैं, शृंगार के सूरदास है। शान्त रस का प्रस्फुटन जिस पूर्णता के साथ विनय पत्रिका में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। शान्त रस के सारे संचारी भाव विनय पत्रिका में आ गये हैं। स्थाई भाव निर्वेद 'अब लौं न नसानी, अब न नसै हौं' में है। आलम्बन विभाव के रूप में—हरिकृपा 'माधव ! असि तुम्हारि यह माया' में और गुरु कृपा—'राम को गुलाम, नाम राम बोला राख्यो राम' में आया है। उद्दीपन के रूप में देवता—'देखो देखो बन बन्यो आजु उमाकान्त, तथा 'इहै परमफलु परम बड़ाई' में;

स्थान काशी 'सेइय सहित सनेह देह-भरि कामधेनु कलि काशी,' चित्रकूट—'अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु' में, नदी—गङ्गा 'जय जय भगीरथ नंदिनी मुनिचय चकोर चंदिनि,' यमुना 'जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न' में आये हैं। अनुभाव रूप में रोमांच और कंप—'सुनि सीतापति-सील सुभाउ' में विद्यमान हैं। संचारी भाव सुबुद्धि, ग्लानि, गर्व, हर्ष, दीनता, मोह, चिन्ता क्रमशः दुसह-दुख दलनि करु देवि दाया, 'ऐसी मूढ़ता या मन की, सुनि सीतापति सील सुभाउ, राम राम, राम राम राम राम राम राम जपत नाचत ही निशि दिवस जौ पै चेराई राम की करतो न लजातों रघुवर राविरि यहै बड़ाई तथा ऐसो राम दीन-हितकारी से आरम्भ होने वाले पदों में आये हैं।

धार्मिक दार्शनिक दृष्टि से विशिष्टाद्वैत की प्रधानता विनय पत्रिका में है। ब्रह्म को पाँचों रूपों में आरोपित किया है। काशी, चित्रकूट कर्मक्षेत्र हैं उन की महिमा है। आध्यात्मिक दृष्टि से भक्ति के रूपों की प्रधानता है। तुलसी स्मार्त वैष्णव थे। पंच देवों की पूजा ही स्मार्तों की पुष्टि है। तुलसी के राम अन्य सभी देवताओं के ऊपर हैं। देवी देवताओं आदि की प्रार्थनाएँ केवल उस राम की प्रप्ति के मार्ग मे साधन मात्र ही हैं। शैव का स्वरूप शिव की उपासना के सम्बन्ध में, वैष्णव का विष्णु की प्रार्थना में, और शक्ति का देवी देवताओं की प्रार्थना में, समाया हुआ है। तत्कालीन तीनों धर्मों का समन्वय विनयावली में हो गया है। काशी की प्रार्थना की रामचरित वर्णन में कोई आवश्यकता न थी। केवल धार्मिक मतों में एक रूपता का प्रादुर्भाव करने को शैवों की काशी का वर्णन किया गया है।

भक्ति के साधनों और आत्म ज्ञान की बातों का निदर्शन विनय पत्रिका के काफी पदों में किया गया है। किन्तु केवल विशिष्टाद्वैत की ही बातें वे नहीं है सभी मतों में समान रूप से पाई जाने वाली बाते हैं। एक मात्र साध्य राम भक्ति है यद्यपि कितने ही तथ्य रक्खे गये हैं।

काव्य परम्परा का पालन विनय पत्रिका में सम्पूर्ण रूप से किया गया है। रसों की व्यंजना पूर्ण है। प्रधान शांत रस है और उस के साथ के अन्य रस भी खूब आये हैं। अलंकार और ध्वनि भी पूर्ण हैं। यद्यपि उनका उद्देश्य पांडित्य प्रदर्शन न था, अपने भावों का प्रदर्शन मात्र ही था।

विनय पत्रिका की भाषा व्रजभाषा है। अरबी फारसी शब्दों के मिश्रण के साथ व्रजभाषा का कलेवर पूर्ण रूप में रक्खा है इस में तुलसी का कौशल है। व्रज-भाषा और अवधी दोनों में तुलसी पारंगत दीखते हैं। किन्तु अवधी उन की मातृ भाषा थी, उन के आराध्य राम की जन्म भूमि की भाषा थी उस में उन को वही सिद्धि प्राप्त हुई जो कि सूर को अपने आराध्य कृष्ण की लीला भूमि बृज की भाषा में। तुलसी की व्रज-भाषा में तत्सम तथा सामासिक शब्दों का बाहुल्य है, फल स्वरूप वह जन साधारण की भाषा न रह सकी (इस कारण भी विनय पत्रिका जन साधारण की चीज नहीं।) किन्तु भाषा की यह जटिलता तुलसी के गहन पांडित्य और विस्तृत अध्ययन के कारण भी सहज स्वाभाविकता से आ गई है। इस प्रकार तुलसी का शब्द-भांडार तत्सम शब्दों से ही युक्त है। तुलसी की ऐसी परिष्कृत भाषा का प्रयोग अन्य कवि न कर सके। व्यवहार में आये हुए शब्दों का बहिष्कार न करते हुए भी ऐसा किया है। बुन्देली, भोजपुरी आदि सभी बोलियों

का पुट तुलसी की भाषा में मिलता है। वरेखी, भीज्यो, खाँची आदि ग्रामीण शब्दों का भी बहिष्कार नहीं किया है। भाषा की विभिन्नता, विनयपत्रिका में जितनी है, 'मानस' को छोड़ कर अन्यत्र नहीं। विनयावली के पद सरल से सरल भी हैं और कठिन से कठिन भी।

विनयपत्रिका का स्थान हिन्दी के भक्ति साहित्य में श्रेष्ठ है अद्वितीय है। 'मानस' में भी ज्ञान वैराग्य, भक्ति का समर्थन है पर जिस घनीभूत एकतानता के साथ विनय-पत्रिका में वह आया है उस ने विनय पत्रिका को हृदय का अद्वितीय ग्रन्थ बना दिया है।

१७—सहृदय कवि सूरदास

सूरदास—नैन कंज अभिराम 'सूरदास', वाल-बच्चेदार सूरदास 'गान काव्य गुन रासि सुहृद सहचरि अवतारी' सूरदास जिन्हों ने नवों रसों को विविध भाँति गाया है जो मुख्य रूप से शृंगार के गायक हैं, कम से कम सोलहवीं शताब्दी के नाभादास (१५४३—१६२३ ई०) के भक्तमाल (१५८५—१६२३ ई०) और भक्तमाल की प्रियादास कृत भक्ति रस बोधिनी टीका (१७१२ ई०) में अद्भुत तुकधारी सूर से भिन्न हैं। नाभा दास ने सूर और सूरदास पर दो अलग छप्पय दिये हैं। सूर कवित्त सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।

उक्ति चोज अनुप्रास वरन अस्थिति भारी,
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी,
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी,
जनम करम गुन रूप सबे रसना परकासी,
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन स्रवननि धरै,
सूर कवित्त सुनि कौन जो नहिं सिर चालन करै ?
२ (स्री) मदन मोहन सूरदास की नाम शृंखला जुरी अलट !
गान काव्य-गुन रासि सुहृद सहचरि अवतारी,
राधा-कृस्न उपास्य रहसि सुख के अधिकारी,
नव रस मुख्य सिंगार विविध भाँतिन करि गायो,
वदन उच्चरित वेर सहस पायनि ह्वै धायो,
अंगीकार की अवधि यह ज्यों आख्या भ्राता जमल,
(स्री) मदन मोहन सूरदास की नाम शृंखला जुरी अटल।

सूरदास के काव्य गुणों की प्रशंसा नाभा ने की है उस गेय काव्य में नवों रसों को बताया है। अद्भुत तुकधारी सूर की उक्तियों की, अनुप्रासों की प्रशंसा है, रसों की, गेय गुणों की प्रशंसा नहीं। स्री शब्द का प्रयोग सूरदास के साथ हुआ है जो सूचित करता है इस कवित्त के बनते समय (१५८५ ई०) सूरदास जीवित थे।

प्रियादास ने अपनी टीका में सूरदास के विषय में लिखा है—कि वे द्विज थे, संडीले के अमीन हुए, उन के नयन, अभिराम नयन थे। संडीले का खजाना संतो को लुटा दिया, रुक्का छोड़ कर भाग गये। टोडरमल ने उन्हें कैद करवाया। अकबर ने मुआफ कर दिया। वृन्दावन में भक्त की रीति से रहे।

ये सूरदास, अकबर के दरबार के कलावंत रामदास ग्वालियर ी के पुत्र थे, बैरामखाँ, शेरशाह तथा दौलतखाँ, लोदी के

यहाँ रामदास पहिले रहे। पुराण इन्हें चन्द्र भट्ट (चन्दवरदाय) का वंशज वताता है—

सूरदास इति ज्ञेयः कृष्ण लीलाकरः कविः।
शंभुर्वै चन्द्र भट्टस्य कुलेजातो हरि प्रियः।

वल्लभ संप्रदाय के सूर का अकवर के दरवार में रहना लोग स्वीकार नहीं करते। इस अवस्था में अनुश्रुति विचारणीय है। अनुश्रुति के अनुसार सूरदास के पदों का संकलन अकवर के आदेश से रहीमखान खाना ने सूरदास की मृत्यु के बाद किया। अकवर को क्या पड़ी थी कि वल्लभ में संप्रदाय के सूर (नाभा के तुकधारी सूर) के पदों का संकलन करवाता? अपने कर्मचारी सूरदास के पदों का संकलन करवाने की इच्छा उस में हो सकती है। सूरसागर के छपे संस्करणों में नवों रसों की कविता मिलती है। शृंगार की विशेष रूप से। ऐसे शृंगार की भी जो भक्त-विरक्त-बाल ब्रह्मचारी का शृंगार कदापि नहीं हो सकता। रसमय दांपत्य जीवन बिताने वाले व्यक्ति का अवश्य हो सकता है। रहीम स्वयं शृंगारी वृत्ति के थे उन्हें शृंगारी पदों का संकलन करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी।

सूर सागर की सन् १६४१ ई० की, सन् १६४० ई० की, १६३८ ई० की तथा सन् १६२६ ई० की प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं जिन में पदों की संख्या क्रमशः ६१५, ८१२, ४७० और ४६२ है। ये प्रतियाँ इस बात की सूचना दे रही हैं कि सूरदास के पद, संख्या में हजार से अधिक नहीं है अस्तु काँकरौली में सवा लाख पदों का सूरसागर यदि है तो प्रमाणिकता की दृष्टि से वह, महत्व का नहीं कहा जा सकता।

अकबर के दरबार में तानसेन भी थे। ग्वालियर में भी

और वृन्दावन में भी तानसेन और सूरदास ने संगीत की शिक्षा साथ पाई थी। प्रसिद्धि है कि तानसेन के संगीत की प्रशंसा में सूरदास ने कहा—

विधिना अस जिय जानि के शेषहि दिये न कान,
धरा मेरु डोलत फिरैं तानसेन की तान।

और सूर के पद की दाद तानसेन ने दी—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद सुन्यो, *यौ सुर+ धुनत सरीर।

सूरदास और तानसेन के ये दोहे हों चाहे न हों दूसरा दोहा तथा उस का संस्कृत रूप दोनों ही हैं। संस्कृत रूप है—

किं कवे स्तस्य काव्येन किं कांडेन धनुभृ तः।
परस्य हृदये लग्नं यन्न घूर्णायते शिरः।

नयन कंज अभिराम सूरदास वृद्धा अवस्था में अपनी दृष्टि खो गये। उन की आँखों से पानी टपकता था—

स्रवन न सुनत, चरन गति थाकी, नैन भए जलधारी।
पतित केस, कफ कंठ बिरुंध्यो, कल न परति दिन राती!

सूरदास ने केवल नामदेव को याद किया है। भागवत की कथा कही है। किन्तु पद भर नहीं लिखे, दोहे और कवित्त भी लिखे हैं। छपे सूरसागर के संस्करणों को देखने से पता चलता है प्रयाग और काशी भी सूरदास गये, हितहरिवंश और हरिदास के संपर्क में रहे। सूरसागर में राधा का जैसा चित्रण है वैसा चित्रण तुकधारी वल्लभ संप्रदायी सूर नहीं कर सकता। वल्लभ संप्रदाय के सूर चाहे सीही के जाट हों, आँख के अंधे बाल ब्रह्मचारी हों, चाहे कायस्थ कुल शिरोमणि ही किसी दिन

---

* तन मन + सुनि सुनि

सिद्ध हो जायँ किन्तु सागर में पाये जाने वाले सूरदास द्विज ही हैं जो कि सँडीले के अमीन थे अकबर के दरबारी कर्मचारी थे। सूरजदास छाप वाले व्यक्ति जाट हो सकते हैं और चन्दबरदाय के वंशज भी किन्तु जिन सूरदास के साहित्य के सहृदय गायक रूप के कायल हम हैं नवों रस में राधा कृष्ण उपासी, नयन कंज अभिराम सूरदास वे हैं।

सूरदास के समय से ले कर आज तक न जाने कितने लोगों ने 'सूर के प्रति' अपने भाव प्रकट किये हैं किन्तु श्री नर्मदेश्वर उपाध्य की इस कविता को जो कि मई १६४८ ई० में हमारे देखने में आई हम किसी तरह भी भूल नहीं सकते। इस से सुंदर कोई दूसरी कविता सूर के प्रति हमें नहीं मिली—

ज्योतिमय वाणी तुम्हारी, रूप मय वाणी तुम्हारी !
गूँजती ब्रज-वीथियों में अमृतमय वाणी तुम्हारी !
कवि ! तुम्हें पा कर धरा ने व्यक्ति की अभिव्यक्ति पाई,
कवि तुम्हें पा कर धरा ने सृजन की नव शक्ति पाई,
स्वप्न था संसार, तुम ने सत्य धरणी पर उतारा,
कवि तुम्हें पा कर स्वयं भगवान ने निज भक्ति पाई,
आदि कवि की भाँति मुखरित हो रही वाणी तुम्हारी,
ज्योतिमम वाणी तुम्हारी, रूपमय वाणी तुम्हारी !
सहज शैशव रूप धारण कर सजल घनश्याम आये,
प्रेम की वंशी तुम्हारी लहरियों पर स्वर बजाये,
चित्र अति सुकुमार तुम ने था बनाया राधिका का,
कृष्ण आ कर के तुम्हारी तूलिका में मुस्कराये !
भक्त उद्धव की कहानी कह रही वाणी तुम्हारी,
ज्योतिमय वाणी तुम्हारी, रूप मय वाणी तुम्हारी !
कवि तुम्हारी पंक्तियों में झूमती घन की घटाएँ,

कवि तुम्हारी पंक्तियों में गूँजती[१] मधु की निशाएँ !
कृष्ण-सुधि में सजल स्यामल आत्म'विस्मृत दीपिकाएँ,[२]
उतर आती हैं तुम्हारी पंक्तियों में गोपिकाएँ !
आँसुओं में डूबती ही जा रही वाणी तुम्हारी,
रूप मय वाणी तुम्हारी, ज्योतिमय वाणी तुम्हारी !

सूरदास की रूप रस संगीतमयी वाणी में कौन-सी ऐसी ज्योत्स्नामयी तरलता है जिस का अमृतपान एक बार कर लेने पर मानव हृदय उसे फिर कभी नहीं भूल पाता ?

हिन्दी-काव्य-साहित्य में बीर थे, प्रेमी थे, दार्शनिक थे, लोकनायक थे, किन्तु माँ और उस का हृदय, बच्चा और उस की मन लुभावनी लीलाएँ, गोप जीवन और दूध दही की धाराएँ नहीं थीं ! सूरदास की अन्वेषणी आँखों की विश्लेषणी प्रतिभा ने इन कमियों को देखा, पहिचाना और अपने शास्त्रीय संगीत के स्वरों में सरल अकृत्रिम जीवन की एक एक रम्य लीला को पदों में साकार कर दिया। सूर की भक्ति को हम भूल सकते हैं, उन की गोपिकाओं को भी शायद भूल जायँ, किन्तु उन की राधा को, उन के हठी बाल गोबिन्दा की दही में चींऊँटी ढूँढने की प्रत्युत्पन्न मति को तथा ग्वाल सखाओं के 'काटि खाउ रे,हाऊ' को कभी भी नहीं भूल सकते, दूध की जो नदियाँ उन्हों ने बहाई हैं, वास्तविक जगत में वे अब, स्वप्न हो गई हैं, उन की गोपी को तरह हम भी कह सकते हैं, 'हम को सपने हू में सोच ?' पर कल्पना देश में आज भी दूध की वह चाँदनी तनी है जिसे आज से चार सौ वर्ष पहिले हिन्दी-काव्यकाश में आनन्द ज्योत्स्ना के सुधांशु

१—झूमती धुन की दिशाएँ

२—सिसकियों के सजल दीपक जला कर

सूरदास ने अपनी कोमल कल्पनाओं की उत्प्रेक्षा किरणों के द्वारा संगीत लहरियों की सहायता से ताना था; समय की दूरी उसे तनिक भी धूमिल नहीं कर पाई है।

*हिन्दी-काव्य-जगत में, संभवतः संसार भर के काव्य जगत में बाल-स्वभाव की मनोमुग्धकारी सुषमा चित्रित करने तथा दूध की प्रसन्न ज्योत्स्ना धाराओं को बहाने में सूरदास अपना सानी नहीं रखते, बाल-स्वभाव वर्णन में तुलसी भी उन्हें आदर्श मान कर चले हैं, परन्तु तुलसी में भी बाल-स्वभाव की दुर्भेद्य सरलता में वह गहन प्रवेश कहाँ! सूरदास ने बाल-स्वभाव के अंग-अंग को देखा है। उस का कोई पक्ष ऐसा नहीं जो कि उन की विदग्ध वाणी की चित्रण क्रिया से अछूता रह गया हो। पालने में सोते हुए कृष्ण का लोरी बंद होते ही पलक खोल देना, सोती बेर पलकों को फड़काना, आँगन तथा भीतों पर अपनी परछाई देख कर उसे पकड़ने का प्रयास करना, मुँह में दही लपेटे हुए, धूलि-लथ-पथ घुटनों के बल इधर उधर चलना, माता का लड़कों की हँसी का भय दिखला कर कृष्ण से स्तन-पान छुड़ाना, चोटी-बढ़ने का लालच दिला कर धारोष्ण दूध पिलाना, चोटी न बढ़ने पर कृष्ण का खीझना, कृष्ण का चन्द्रमा के लिए हठ करना, माता का उसे जल में चन्द्र-प्रतिबिम्ब दिखला कर अथवा नई दुलहिन व्याह ला देने की बात कह कर शान्त करना, कृष्ण का दूध-दुहना सीखने का आग्रह करना, एक से एक बढ़ कर आश्चर्य जनक रंग-भरे यथातथ्य सजीव-चित्र, 'सागर' की चित्रावली में विद्यमान हैं, इन के सौन्दर्य को देख, आनंद पुलकित हृदय अपनी सुध खो कर शाश्वत बाल लीलाओं में तन्मय हो जाता है।

---

* सूर शतक-भूमिका (डा० पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल)

वात्सल्य की भाँति ही ग्वाल लीलाओं के सख्य भाव के चित्रण भी सूर में अत्यंत सजीव कल्पनायुक्त पुलक के साथ साथ हैं। कृष्ण, गाय-चराने-जाने देने का आग्रह यशोदा से करते हैं। वे जानते हैं कि यशोदा सहसा ही राजी नहीं होगी, इसलिए निश्छल चतुराई से उस के हृदय में विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। यमुना के तीर न जाने, धूप होने पर छाया के नीचे बैठे रहने और अकेले न रह, ग्वालों के साथ रहने की बात सौंगध पूर्वक कहते हैं। और इस प्रकार बन जाने का आदेश ले ही लेते हैं। बन में ग्वाले अपने बीच में आये हुए कृष्ण को तंग करने में कोई कोर-कसर नहीं रखते। बड़े-बड़े सभी ग्वाले, खेल में विलम जाते हैं। गायें उधर छितर जाती हैं। ध्यान जाने पर, कृष्ण को उन्हें समेटने दौड़ाया जाता है। कृष्ण को जाना पड़ता है। ग्वालों से वे कह ही क्या सकते थे। लेकिन घर आने पर, यशोदा से, जिस पर वे अपना वश समझते हैं, सारी व्यथा कह सुनाते हैं। गाय चराने का उत्साह फिर भी कम नहीं होता। आये दिनों कृष्ण के साँवले रंग को ले कर बलराम दूसरे ग्वालों को चुटकियाँ लेने की पट्टी पढ़ा देते हैं। ग्वाले, कृष्ण से पूछते हैं—'गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर ?' बलराम तुड़का देते हैं, 'कृष्ण को तो खरीद कर के पाला गया है, नंद और यशोदा के पुत्र थोड़े ही हैं, ये तो वसुदेव-देवकी के पुत्र हैं।' तंग आये हुए कृष्ण घर आ कर यशोदा से कहते हैं—'दाऊ ने मुझे बहुत खिझाया, कहने लगा—तू तो मोल का लिया है। ग्वाले भी ताली बजा-बजा कर हँसने लगे। बलराम बहुत बुरा है। अपने आप धन्ना सेठ बनता है और मुझे चिढ़ाता फिरता है। गाय चराने अब मैं नहीं जाऊँगा।' कृष्ण का मन रखने के लिए उस का मुख चूम कर यशोदा कह देती है—

'गायों की सौंह, मैं तुम्हारी माता हूँ और तुम मेरे पूत हो।' दूसरे दिन भी, गाय चराने कृष्ण फिर चले जाते हैं। शिकायती कृष्ण को और भी अधिक चिढ़ाने के लिए ग्वालों सहित बलराम भुलावा देकर जंगल में घने झाड़ के समीप, कृष्ण को ले आते हैं, ग्वालों को खिसक जाने के लिए संकेत कर, अपने आप भी कुछ पीछे रह, कृष्ण को आगे बढ़ा देते हैं और फिर कृष्ण को डराने के लिए 'काटि खाउ रे हाऊ' सहसा कह कर भाग जाते हैं। घर आ कर यशोदा से सारा रोना, कृष्ण फिर रोते हैं। पर बलराम और दूसरे ग्वाले उन्हें छोड़ने वाले कब हैं! लड़कों को भूख लगेगी, इसलिए मक्खन-दही और खाने-पीने की अन्य चीजों की कमोलियाँ, यशोदा साथ कर देती है। वर्षा में भीगने से बचने के लिए ग्वाले अपनी-अपनी कम्बलों को भी साथ लिए चलते हैं। यमुना के किनारे की गोचर भूमि में गायें चरने लगती हैं। रोज की तरह ही इस दिन भी तरह-तरह के खेल खेलने में ग्वाले लग जाते हैं। गायें इधर-उधर फैल जाती हैं। कृष्ण को उन्हें बटोरने के लिए भेज दिया जाता है। इस बीच एक ग्वाला, कृष्ण की कम्बल लुका देता है। लौट आने पर कृष्ण अपना कम्बल ढूँढने लगते हैं। उस के बारे में पूछ-ताछ करते हैं तो एक कहता है—'हम ने तो नहीं देखा' दूसरा कहता है, 'अरे उसे तो गाय खा गई!' तीसरा बोल उठता है, 'अरे देखो-देखो कम्बली तो यमुना में बही चली जा रही है!' मतलब यह कि इसी तरह के अकृत्रिम सरल ग्रामीण जीवन के सुखमय वातावरण में पल कर कृष्ण बड़े होते हैं। पर यह विकास एकांगी नहीं है इस का दूसरा भी पहलू है और वह है राधा का विकास।

प्रकृति के इस सरल आकृत्रिम जीवन में विचरण करने

वाली वृषभानु-सुता राधा से कृष्ण का परिचय खेल ही में हो गया। कृष्ण उस के घर आने जाने लगे। कृष्ण अपनी बाल-सुलभ भुवन मोहन चपलताओं के लिए व्रज मंडल में ख्यात हो चुके थे। राधा भी इन की सजीव चपलताओं की दही-मक्खन आदि चुराने की कहानियाँ सुन चुकी थी। राधा से कृष्ण एक दिन पूछते हैं—'हमारे यहाँ खेलने क्यों नहीं आती ?' राधा उत्तर देती है, 'हम तो अपने ही यहाँ रहती हैं, अपने ही आँगन में खेलती हैं, दूसरे घर जहाँ चोर रहते हों, खेलने क्यों जावेंगी ?' इस पर कृष्ण कहते हैं—'खेलने आने में क्या हर्जा है, हम तुम्हारा क्या चुरा लेंगे ?' बेचारी राधा भुलावे में आ जाती हैं। कृष्ण के यहाँ आने-जाने लगती है। गोचा-रण के लिए भी साथ जाती है। और गो—दोहन में कृष्ण भी कभी-कभी उस की सहायता कर देते हैं। एक बेर, राधा, गाय दुहती थी, कृष्ण ने उस से मटकी ले ली और स्वयं दुहने लगे, पर मन में राधा ही थी। शरारत सूझी एक धार मटकी में और दूसरी को राधा के मुख की ओर देने लगे। इसी तरह जीवन के सरलपन में हृदयों में आकत्रिम प्रेम का बीज पड़ गया।

*किशोरावस्था को छोड़ कृष्ण, यौवन में आने लगते हैं। अंग-अंग का सौंदर्य खुलने लगता है। गोप-बालाओं का सरल बाल्यानुराग भी धीरे-धीरे प्रणयोत्सुक्य में बदलता जाता है। सूरदास ने इन सब मनोदशाओं में सौन्दर्य का शृंगार किया है। मानव सौंदर्य में दुहरे आकर्षण को महत्व दिया है, नारी के सौन्दर्य को ही नहीं, पुरुष के सौंदर्य को भी अंकित किया है। नारी हृदय के आकर्षण को ही नहीं, पुरुष हृदय के स्पंदन

---

* सूर शतक भूमिका (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल)

को भी वाणी दी है। सुन्दरता की सीमा कृष्ण है। कृष्ण की रूप सुषमा का गोपियों ने विषद वर्णन किया है। उन के अंग-अंग पर गोपियों की दृष्टि ठहरी है और उन के सुन्दरता के सागर में उन्हों ने जी भर डुबकी लगाई है, कृष्ण के जिस अंग पर उन की दृष्टि पड़ जाती है वहीं वह लवलीन हो जाती है—'सूरदास जँहँ दृष्टि परति है होति तहाँ लवलीन!'

मुरली पर गोपियों ने एक से एक अनूठी उक्तियाँ कही हैं। कृष्ण के सतत संसर्ग में रहने के कारण वह कभी उन के अनुराग की, कभी ईर्षा की, कभी स्पर्द्धा की कारण होती है, और यथानुकूल प्रशंसा और निन्दा की पात्र बनती है। इसी प्रकार मेघों तथा वृक्षों, पंछियों, नदियों आदि के प्रति भावनाएँ व्यक्त की गई हैं। मेघ-चातक विषयक उक्तियाँ सब से सुन्दर हैं।

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की जो दशा होती जाती है, उस में विरह वेदना की पराकाष्ठा दिखलाई देती है। मथुरा में कृष्ण का संदेश ले कर व्रज में उद्धव के चले आने पर गोपियों को अपने हृदय की विकल वेदना को व्यक्त करने का अवसर मिलता है। उद्धव के प्रति उन की एक-एक उक्ति में उन के हृदय की चोट दिखलाई देती है। कृष्ण उन से केवल चार पाँच मील की दूरी पर यद्यपि हैं फिर भी उन के विरह की माप दूरी से नहीं की जा सकती। इतने निकट होने पर कृष्ण उन के लिए दूर से दूर हैं क्यों कि उन का मिलन सुख उन्हें अप्राप्य है, वियोग के कारण उन का वह पहला सौन्दर्य उपेक्षा और कृषता के कारण तिरोहित हो गया है। जिन स्थानों के साथ कृष्ण की स्मृतियाँ बँधी हुई हैं वे अति दुखदाई हो गये हैं। बिना गोपाल के कुंजें बैरिन हो गई हैं।

कृष्ण के लिए गोपियाँ संदेश भेजती हैं जिन से शायद मथुरा के कुएं तक भर गये होंगे। उन के संदेशों के डर से पथिकों ने आना तक छोड़ दिया है। विरह की ज्वाला का ठिकाना नहीं है। व्रज में कोई भी चिट्ठी नहीं पढ़ता क्यों कि "परसत जरत विलोकत भीजति, दुहूं भाँति दुख छाती।" वर्षा तो इन की आँखों का साथ छोड़ती ही नहीं—'निसि दिन बरसत नयन हमारे, सदा रहत पावस रितु हम पै, जब तैं स्याम सिधारे!" गोपियों के इन आँसुओं की धारा में शुष्क हृदय उद्धव का ज्ञान बह जाता है। और सूरदास अपनी प्रेम-भक्ति की विजय ध्वनि दे कर राधा-कृष्ण प्रेम की गंभीरता की ओर बढ़ जाते हैं।

प्रकृति के प्रसन्न वातावरण में स्वच्छंद विचरण करने वाले राधा कृष्ण के हृदयों में बाल्यकाल में जिस प्रेम बीज को सूरदास ने बो दिया था उसे गोपियों के प्रेमाश्रुओं से सींच कर उन्हों ने आगे चल कर बट-वृत्त के रूप में परिणत कर दिया। गोपियाँ, उद्धव से किसी दिन कह रही थीं—'लरिकाई को प्रेम कैसे अलि भूलि है।" और गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम कम नहीं था, लेकिन कथा के रूप में सूरदास ने राधा को ही उस ज्योति का केन्द्र बनाया है। व्रजवासियों के—विशेष कर गोपियों के—हृदय की गंभीर वेदना को सूरदास ने अधिक विस्तार दिया है। किन्तु राधा और कृष्ण के प्रेम को वे भुला नहीं देते। मथुरा से बृजवासियों की सुध लेने उद्धव को कृष्ण भेजते हैं। द्वारिका में राज वैभव के बीच व्रज की एक-एक याद, कृष्ण को गये दिनों के जीवन को फिर से देखने के लिए विकल करती है। अपने हृदय की इस विकलता को एकान्त क्षणों में रुक्मिणी को बतलाकर वे

कहते हैं, 'चलो, उस व्रजभूमि में चलें, यमुना के तीर सुन्दर कुंज जहाँ हैं, तरह-तरह की लीलाओं में बचपन के सुन्दर दिन जहाँ बीते हैं, जहाँ की याद आने पर सोने के ये महल, द्वारिका का यह जीवन, यह वैभव सभी फीके लगने लगते हैं। इस विकलता के बीच राधा की मूर्ति कहीं छिपी है, इस बात का पता तब चलता है, कृष्ण व्रजवासियों से मिलने की युक्ति जब सोच लेते हैं। पर्व के समय कुरुक्षेत्र में स्वयं पहुँच कर, संदेशा भेज कर व्रज से व्रजवासियों को भी बुलाने का यत्न करते हैं। और संदेशा ले जाने वाले व्यक्ति से और सब बातें कह देने के बाद अंत में धीमे से इतना ही कह पाते हैं—'और हमारी बचपन की एक सखी भी वहाँ रहती है।'

व्रजवासी, कुरुक्षेत्र जाने की तैयारी करते हैं। कृष्ण की उस बचपन की सखी को ठीक से कुछ पता नहीं कि व्रजवासी उसे भी कुरुक्षेत्र ले जाते हैं या नहीं। आखिर, व्रजवासियों के साथ अपने को भी कुरुक्षेत्र की ओर जाती वह पा ही लेती है। उधर जिस रुक्मिणी से व्रज की गाथाएँ कृष्ण ने कहीं थीं, जिस ने व्रजवासियों को देखने की उत्सुकता प्रकट की थी, कुरुक्षेत्र पहुँचने पर सब से पहले वह ही कृष्ण की उस सखी को देखने के लिए लालायित होती है, जिस ने बचपन ही में कृष्ण का मन मोह लिया था। रुक्मिणी कहती है—'मुझे उसे दिखलाओ।' बेचारे कृष्ण इतने लोगों के सामने, कैसे यह सब कुछ करें। उधर, रुक्मिणी को चैन ही नहीं। कृष्ण सब व्रजवासियों से मिल लेते हैं। राधा दूर अपनी सखियों के बीच, नीली साड़ी पहिने खड़ी थी। अवसर मिलने पर रुक्मिणी से कृष्ण चुपके से कहते हैं—"देखो जो अपनी सखियों के बीच, नीली साड़ी पहिने है, वही है।" रुक्मिणी दूसरे ही क्षण राधा

के पास नजर आती है। पिता हृदय सूरदास ने रुक्मिणी और राधा के इस मिलन को हृदय से जितना दिखलाया है वाणी द्वारा उतना नहीं कहा। उन्हों ने केवल इतना ही कहा कि ये दोनों उसी भाँति से गले मिलीं जैसे कि बहुत समय से बिछुड़ी हुई एक बाप की दो बेटियाँ मिली हों। और यह कह कर के ही वे सब कुछ कह गये। रुक्मिणी भी अवसर पाने पर राधा से कृष्ण को मिला देती है।

सूरदास ने सीता, शबरी, यशोदा, सुदामा आदि के अत्यंत भाव प्रवीण चित्र अंकित किए हैं। राग-रागिनियों में, व्यंजनात्मक उत्प्रेक्षाओं के द्वारा एक से एक सुन्दर, लीलाओं की झाँकियाँ दिखाई हैं, उन का यशोगान कर व्रज भाषा की काव्य-संपत्ति का गौरव बढ़ाया है। अपने पदों में पौराणिक कथाओं और दार्शनिक विचारों के प्रतीकों को स्थान दिया है। स्वीकार किया है कि जीव, ब्रह्म का ही अंश है। ब्रह्म से वह वैसे ही अलग हो गया है जैसे कि आग से चिनगारियाँ। आनंद के तिरोभाव से जीव दुखी है, परब्रह्म की कृपा से ही जीव, खोये स्रोत की ओर फिर से बढ़ सकता है, मूल स्वरूप में मिल सकता है। परब्रह्म निर्विकार होते हुए भी लीला के हेतु सगुण साकार रूप में व्यक्त होता है। सगुण, निर्गुण का विरोधी नहीं उस का पूरक है। निर्गुण अनुभूति गम्य है, एक रस है पर उस को पाने का मार्ग कठिन है। उस कठिन मार्ग पर सगुण की सीढ़ियों से ही पहुँचा जा सकता है। सगुण सर्व सुलभ है, सहज सुन्दर है। इन्द्रियों की आवश्यकता की पूर्ति पहले होनी चाहिए। उन्हें अनुकूल बना कर ही अनिर्वचनीय आनंद की ओर बढ़ा जा सकता है। पृथ्वी पर बालक रूप में क्रीड़ा करने वाले कृष्ण, विराट् परब्रह्म हैं, राधा उन की

शक्ति है। गोप-गोपियाँ उन के क्रिया रूपों की अभिव्यक्ति हैं। आत्माएँ गोपिकाएँ हैं। भगवान के सम्मुख, भक्तों को सब कुछ किस प्रकार त्याग देना चाहिए, प्रेम की गंभीरता किस प्रकार होनी चाहिए, इसे परकीया गोपियों के प्रतीक रूपक द्वारा उपदेश के रूप में चीर-हरण, रास-लीला आदि के द्वारा चरित्रवान सूरदास ने पारलौकिक दृष्टि से दिखाया है। सिद्धान्त प्रतिपादन मधुप-मधुर रूप में गोपियों के द्वारा भ्रमरगीत में किया है। लोगों की कर्मण्यता रणथंभौर के पतन के साथ मिट गई थी इसलिए प्रेम पक्ष को ही प्रधानता दी गई। कृष्ण का महाभारत में पाया जाने वाला राष्ट्र निर्माता रूप नहीं अपनाया गया वरन् उन के उस जीवन का वही अंश, कृष्ण भक्ति में लिया गया जो श्रीमद्भगवात में है। भागवत् की परंपरा में आ कर भी सूरदास ने कृष्ण काव्य में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है, श्रीमद्भागवत का रूपान्तर मात्र नहीं किया। रूपान्तर वाले स्थलों में प्रबंध गीति का पौराणिक शैली का प्रयोग किया है। मौलिक उद्भावनाओं के लिए राग-रागनियों की मुक्तक पद शैली का उपोयग किया है। व्यवस्थित ढाँचा खड़ा कर ग्रंथ रचना करने का उद्योग सूरदास ने नहीं किया इसलिये उन की रचनाओं में तुलसी के ग्रन्थों की-सी व्यवस्था नहीं पाई जाती। सूरदास की रचनाओं में व्यवस्था भले ही न हो, भले ही शृंगार में वे इतने बह गये हों कि मर्यादा की भी सीमाएँ टूट गई हों किन्तु भावनाओं की सुन्दरता को जितनी गहराई के साथ सूरदास ने देखा है उतना किसी और ने नहीं देखा। हृदय के सौन्दर्य को संगीतमय जैसी वाणी, सूरदास में मिली है वैसी तुलसी के साहित्य में नहीं दिखाई देती। जनता की सूर और तुलसी दोनों के प्रति अटूट श्रद्धा है। सूरदास की

कलात्मकता का दर्शन करने के लिए उन की राधा की दिव्य मूर्ति तक पहिले पहुँचना होता है। उन की उत्प्रेक्षाओं, व्यंजनाओं में भावों की मौन मूर्ति को श्रद्धाञ्जलियाँ चढ़ा कर ही उन की काव्य-कला के सौन्दर्य शृंगों के दर्शन होते हैं। बाल-लीला के पदों में चित्र हैं, सजीवता है, स्वाभाविक प्रसन्नता है पर कलात्मक संयम की वह निपुणता जो एक बार रघुवंश के कालिदास में देखी थी सूरदास की राधा में मूर्तिमान हुई है। राधा की जो दिव्यमूर्ति सूरदास ने हमें दी है अकेली वह ही उन्हें कालिदास के समकक्ष ला बिठाने के लिए पर्याप्त है।

विराट् प्रकृति के उपासक कालिदास थे। सूरदास ने विराट प्रकृति से विराट् पुरुष की आरती उसी प्रकार उतरवाई है जिस प्रकार कि नानक ने आकाश के थाल में सूर्य्य-चन्द्र-ताराओं को सजा कर ब्रह्म की आरती उतरावाई है।—

हरि जी की आरती बनी !
अति विचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी,
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँड़ी सहस फनी,
मही सराव सप्त सागर घृत बाती सैल घनी,
रवि-ससि ज्योति जगत परि पूरन हरति तिमिर रजनी,
उड़त फूल उड़गन नभ अंतर अंजन घटा घनी,
नारदादि सनकादि प्रजापति सुर नर असुर अनी,
काल कर्म गुन ओर अंत नहिं प्रभु इच्छा रचनी,
यह प्रताप दीपक सुनिरंतर लोक सकल भजनी.
सूरदास सब प्रगट ध्यान में अति विचित्र सजनी,

विराट् कवि सूरदास को किसी एक सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। हरिदास, हितहरिवंश, चैतन्य, वल्लभ, तानसेन

सब की विशेषताएँ उन के विराट हृदय में एक साथ ही विद्यमान हैं। बाल कृष्ण के ही नहीं, परकीय गोपिकाओं और रहस्यमयी राधा के भी उपासक वे हैं। बल्लभ संप्रदाय का यह कहना कि इस संप्रदाय में आने से पहिले सूरदास चालीस वर्ष की अवस्था तक घिघियाते थे, विनय भर के पद गाते थे, संप्रदाय में आने पर, सुबोधिनी सुन लेने पश्चात्, लीला के पद गाने लगे, विडम्बना मात्र है। सूरदास किसी एक सीमा में नहीं अटा सकते, सीमाएँ सब उन की हो सकती हैं किन्तु वे किसी भी सीमा के इसलिए नहीं हैं कि वे सभी सीमाओं के एक साथ हैं, न उन को अबुलफजल से बैर है न अकबर से, न तुलसी से न योग ही से। सूरदास, प्रेम और सौन्दर्य, माधुर्य और वात्सल्य, सख्य और दास्य, शृंगार और शान्त, काव्य और कला, संगीत और भावुकता के मूर्तिमान वरद पुत्र है।

१८—यौवन के कवि नंददास

सूर और तुलसी भक्त होने के कारण श्रेष्ठ कवि हैं किन्तु नंददास (१५१३-१५८३) उन कवियों में हैं जिन्हों ने अंतरंग के साथ वहिरंग का भी ध्यान रक्खा है। मध्यकालीन कृष्ण भक्त कवियों ने भागवत की परंपरा को अपनाया है किन्तु नंददास में नरोत्तम दास की ही भाँति कथा कहने की भी प्रवृत्ति है। कृष्ण प्रेम कथाओं की ओर नंददास का झुकाव

कुछ तो निजी रसिक प्रवृत्ति से, कुछ रसिक मित्र के साह-
चर्य के और कुछ ब्रजमंडल के तत्कालीन रसिक वातावरण
तथा मुगल जीवन की विलासी चकाचौंध के प्रभाव के कारण
बढ़ता हुआ प्रतीत होता है।

राधा-कृष्ण-प्रेम की जो कथाएँ पहिले केवल लोक गीतों
तक सीमित थीं ईसा की पहली शताब्दी से साहित्य में भी
स्थान वे पाने लगीं। गाथा सप्त-सती, पंचतंत्र, श्रीमद् भागवत
गौड वहो, ध्वन्यालोक, दशावतार चरित, कृष्णकर्णामृत, गीत-
गोविन्द, ब्रह्म वैवर्त पुराण देवी भागवत आदि ग्रन्थों में उन का
विकास हुआ। संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य
कला, और जीवन-विश्वासों को भी वे प्रभावित करने लगीं।
नाटकों में भी उन का समावेश हुआ। प्रत्येक युग ने अपनी भी
छाप उन कथाओं पर लगादी। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक कलाकार
अपनी मनोवृत्तियों, पूर्व अर्जित संस्कार-संपत्ति और युग
चेतना के अनुकूल अपने जीवन की अभिव्यक्ति अपनी रच-
नाओं में करता है। नंददास ने भी यही किया।

कृष्णकाव्य में संगीत का मधुर सम्मिलन भगवतकार ने
ने श्रीमद्‌भागवत में और जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में
सुन्दरता से कर दिया कि परवर्ती भक्तों, कवियों और
हित्य रसिकों के लिए भागवत और गीतगोविन्द आदर्श
हो गये। जीवन और साहित्य पर इन दो ग्रंथों का
व भला बुरा दोनों प्रकार का पड़ा। रसमय भी वह बना
उस में वह रसिकता भी आ मिली जो कि जीवन को
की ओर ले जाने वाली होती है। उत्तर भारत के जीवन
यह प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी तक रहा। उन्नीसवीं
दी से कालिदास और गौतम के स्वर जगने लगे, जिस

से भारतीय जीवन और साहित्य दोनों ही उन्नति के पथ पर लग गये।

इन नौ दस शताब्दियों के बीच पले हिन्दी के साहित्य में अनेक प्रकार के आन्दोलन हुए जिन से देशी बोलियों को साहित्य में फलने का अवसर मिला और भिन्न-भिन्न प्रकार की जीवन धाराओं के सम्मिलन हुए, जिस से एक का प्रभाव दूसरी पर पड़े बिना न रहा। कबीर तथा दूसरे सन्तों की विचार धाराओं ने बुद्धि को उत्तेजना दी, योग तथा सूक्ष्म निर्गुण-चिन्तन-सुगुण-दर्शन ने जीवन-काव्य को आन्दोलित कर दिया। योग-संत परंपरा तथा उपनिषदीय दार्शनिक विचारधारा तथा पौराणिक साहित्य और विदेशी विचारों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि साहित्य में इन की अभिव्यक्ति विरोध के बीच भी एक स्थापना सी हो गई। व्रज मंडल के लोग भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके।

संगीतज्ञों, भक्तों, आचार्यों, कवियों, संतों, सूफियों तथा योगियों का रंग, व्रज मंडल में पनपने वाले कृष्ण काव्य पर भी चढ़ा। भागवत और जयदेव की परंपरा, विद्यापति, चंडी दास, चैतन्य तथा वल्लभाचार्य से होती हुई व्रज मंडल तक अपने परिवर्तित रूप में पहुँची। आनन्द के उपभोग पक्ष को महत्व मिला। सूरदास की भाव प्रवण कल्पना और प्रतिभा ने उसे गेय पदों के रूप में वाणी प्रदान की। नंददास, परमानंददास, कुंभनदास, गोविन्ददास आदि दूसरे कवियों ने साहित्यिक खूबियों से और मीरा, हरिदास, तान सेन आदि ने संगीत की विशेषताओं से भरकर उसे रमणीय रूप दे डाला। निर्गुण अद्वैत के दर्शन और शुष्क उपदेशों से विरस जनता की हृदय वाटिका शृंगारी भक्ति के मेघों के गर्जन-वर्षण

से लहलहा कर खिल उठी। ब्रजमंडल का वतावरण भी नंददास के समय संगीतमय हो रहा था। तानसेन का दरबारी संगीत ही नहीं, हरिदास, सूरदास, गोविन्दस्वामी आदि का मधुर प्रेम संगीत, बंगाली वैष्णवों के नृत्य के साथ मिल कर सागर की भाँति लहरा रहा था। 'रसिक रंग मँगे, नंददास, ने उस रंगीन सागर में खूब डुबकियाँ लगाईं। उन की संगीत निपुणता उनकी रचनाओं में विशेष कर पदावली में दर्शनीय है।

नंददास रसिक व्यक्ति थे इस बात का पता उन की रचनाओं मात्र से नहीं अन्य प्रकार से भी चलता है। कह जाता है कि द्वारिका की यात्रा के लिए घर से वे चले थे, राह भूल कर भटक गये, कुरुक्षेत्र के समीप, सीनंद गाँव में किसी खत्री की स्त्री पर रीझ गये, फिर, ब्रज में आ बसे। यहाँ भी बल्लभ संप्रदाय की एक अत्यंत रूपवती दासी, रूपमंजरी से उन की घनिष्टता बढ़ गई। उसी के अनुरोध से उन्हों ने संस्कृत में नहीं वरन भाषा में रूपमंजरी, रस मंजरी, विरह मंजरी आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। स्वयं भी नंददास ने रासपंचाध्याई में लिखा है कि एक परम रसिकमित्र के अनुरोध से भागवत उनतीसवें अध्याय से तेतीसवें अध्याय तक की रासपंचाध्याई की धार्मिक प्रेम की कथा, भाषा में लिखी गई है—

श्री भागवत सुनाम, परम अभिराम, परम गति,
निगम सार, सुकुमार, बिना गुरु कृपा अगम अति,
ताही में पुनि अति रहस्य यह पंचाध्याई,
तन में जैसे पंच प्रान यों सुक मुनि गाई,
परम रसिक इक मित्र मोहि जिन आग्या दीनी,
ता ते मैं यह कथा जथामति भाषा कीनी।

अन्य किसी कवि ने भी लिखा है, रूप मंजरी रूप धरया

तब, नंददास उरझाया, इस से भी पता चलता है कि नंददास की परम 'रसिक मित्र और कोई नहीं; स्वयं रूप मंजरी है।

नंददास ने रूप मंजरी को राधा का प्रतीक बना कर परकीया प्रेम का समर्थन किया। यह समर्थन संकेत देता है चैतन्य संप्रदाय के भी प्रभाव में नंददास थे। हो सकता है इस से भी वल्लभ संप्रदाय में नंददास को 'सागर' उपाधि न मिल पाई। 'रूप मंजरी', से इस बात का भी पता चलता है कि कोई रूप शोभा अपने यौवन के हाव-भाव हेलादि से नंददास के मन में घर कर गई थी।

नंददास, सौन्दर्य प्रिय रसिक व्यक्ति थे। उन की रसिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए वल्लभ संप्रदाय की आनंद की रस रूपिणी भक्ति ने जादू का काम किया। वल्लभ संप्रदाय की इस विशेषता के मूल में जो धार्मिक भावनाएँ थीं उन के आधार श्रीमद्भागवत, गीता और उपनिषद थे। किन्तु साम-यिक अवस्था के अनुकूल आनंदमय रस रूप का समन्वय वल्लभ-संप्रदाय को आकर्षक बनाने में सफल हुआ। और भक्ति की बाढ़ में यह धारा अधिक से अधिक लोगों को आकृष्ट करने में समर्थ हुई। संगीत और कृष्ण-शृंगार इस के मुख्य साधन थे। इसी संप्रदाय में नंददास का ऐसे रसिक मित्र से संपर्क हो गया था जिस में रूप-रस-सौन्दर्य, संगीत, नृत्य, प्रेम तथा कविता सभी को वे मूर्तिमान पाते थे, फिर क्या था! नंददास की भावुक प्रतिभा को मधुर शृंगारी काव्य का बाना पहिनते देर न लगी। मधुर शृंगार के कलाकार कवि होने के लिए सब कारण वहाँ मौजूद थे, सौन्दर्य के चरणों पर अपना सर्वस्व समर्पित करने वाला हृदय, संस्कृत भाषा, दर्शन-शास्त्र तथा काव्य-शास्त्र का गहन अध्ययन,

काव्य कला की निपुणता, संगीत में गति, वल्लभ-संप्रदाय का शिष्यत्व और परम रसिक मित्र का संपर्क, स्फटिक में 'तरनि किरन' पड़ने भर की देर थी, और उस अवसर को भी आते देर न लगी।

रसिक मित्र, भागवत की प्रेम-कथा पर रीझे हुए थे, किन्तु संस्कृत का अधिक ग्याँन न होने से दार्शनिक पक्ष समझना कुछ कठिन था। इसलिए उन्हों ने नंददास से अनुरोध किया, उन्हें आदेश दिया कि रास-प्रसंग वाले अंश को भाषा में वे बदल डालें। नंददास कब आनाकानी कर सकते थे। 'मानस' की प्रसिद्धि से उन्हें समूचे श्रीमदभागवत को को हिन्दी में प्रस्तुत कर देने की अभिलाषा हुई थी और वे इस कार्य में लग भी गये थे किन्तु रोजी चले जाने के भय से पंडितों ने विरोध किया तो विठ्ठलनाथ (१५१५-१५८५ ई०) के कहने से पंचाध्याई तक ही नंददास को रह जाना पड़ा; और यही वह अंश था जिस को नंददास के परम रसिक मित्र भी भाषा में समझना चाहते थे। नंददास ने अपनी सारी शक्ति इसी अंश पर लगा दी। दर्शन शास्त्र का गहन अध्ययन, शब्दों और अर्थों की सरस मधुर संगीतमय साधना, उन को रूप और वाणी देने की कला, सामग्री चयन-प्रणयन तथा सौन्दर्य प्रसाधन की निपुणता, शब्द-गति-भाव-सौन्दर्य-चित्रों को मूर्तिमान कर देने की असाधारण क्षमता और प्रेम-अनुरोध निभाने की सदेच्छा, सभी ने रासपंचाध्याई को नंददास का सरस मधुरतम ग्रंथ बन गया।

रासपंचाध्याई में सुकदेव की वंदना, भागवत की आवश्यक महत्ता, सुकदेव और कृष्ण का नख शिख वर्णन, रसिक मित्र के अनुरोध की चर्चा, वृन्दावन, यमुना, कदंब कुंज,

चन्द्रोदय, शरद रितु आदि का वर्णन तथा मुरली, रासलीला, प्रेम विरह, दर्शन और महात्म्य सब को यथायोग्य महत्ता दी गई। अलौकिक और लौकिक, प्रकृति और पुरुष, मोह और प्रेम, पृथ्वी और स्वर्ग, भौतिकता और आध्यात्मिकता, संगीत और नृत्य, काव्य और कला का मणिकांचन संयोग हुआ है। युवक कृष्ण की, गोपी-प्रेम-कथा लीला उस का मुख्य विषय है। एक चतुर निपुण कलाकार की भाँति ही नंददास ने उस कथा लीला को मोहक से मोहक, सरस से सरस और आकर्षक से आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है। रासपंचध्याई का तीसरा अध्याय बतला देता है कि जयदेव के गीत गोविन्द को आदर्श मान कर नंददास चले हैं। सौन्दर्य और संगीत के साथ-साथ चलने वाले एक भाव को नंददास बहुत दूर तक निभा ले जाते हैं। रासपंचाध्याई स्वतः ही "आनन्द की सिद्धावस्था के उपभोग पक्ष को ले कर चलने वाला काव्य" बन गया है।

नंददास की महत्ता इस बात में है कि कृष्ण कथा को सरस और आकर्षक बनाने मे उन्हों ने शिष्टता को च्युत नहीं होने दिया है। रास लीला की आध्यात्मिकता तथा भुवन मोहक कृष्ण सौन्दर्य से समस्त ब्रजभूमि के लताकुंज, वन-वृक्ष, पशु-पक्षी इत्यादि को अनुरंजित कर माधुर्य भावना की भक्ति तथा प्रेम-दर्शन का भी प्रतिपादन करते हुए, अलौकिक दिव्य सौन्दर्य के दर्शन पृथ्वी पर करा देने का उद्योग उन्हों ने किया है। इसीलिए नंददास का वृन्दावन साधारण बनों की तरह नहीं है। उन का वृन्दावन केवल कृष्ण लीला ही के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुआ है, वास्तव में वह इस संसार का नहीं है। पहाड़ों पक्षियों मृगों तथा लताओं

पर काल का प्रभाव वहाँ नहीं पड़ सकता। मेघदूत की अलका की भाँति वहाँ भी बसन्त रितु ही सदैव रहती है। वहाँ की भूमि चिन्तामनि सी सब फल दायक है—

श्री वृन्दावन चिद्घन, कछु छवि बरनि न जाई।
कृष्ण ललित लीला के काज धरि रह्यौ जड़ताई,
जहँ नग खग मृग, कुंज वीरुध तृन जेते,
नहि न काल गुन प्रभाउ, सदा सोभित रहैं तेते।
सब रितु सन्त बसन्त, लसत जहँ दिन मनि ओभा।
चिन्तामनि सम भूमि, सबन चिन्तत फल दाइक।

इस भूमि में, हृदय के इस प्रांगण में अपनी प्राण गोपिकाओं के साथ रास रचने वाले नट नागर का ध्यान कर कौन अपवित्र हो सकता है। और वे गोपिकाएँ? वे भी साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं, न कुलटाएँ ही हैं। प्रेम-रस भरी, गुण भरी वे हैं, इसी से रास की अधिकारणी हैं। नाद ब्रह्म के अत्यंत सूक्ष्य रंगीले पंथ में उन्हीं की गति है, क्योंकि उस जोग माया-सी मुरली की एकान्त ध्वनि और किस ने सुनी?

रास के इस वृन्दावन में कृष्ण का स्वर्गीय सौन्दर्य, वन-उपवन पुष्प-पवन, आकास-पृथ्वी, पुरुष-स्त्री सभी को सौन्दर्य-शाली बना रहा है। हमारा यह सौभाग्य है कि नंददास ने मधुर व्रजभाषा को और भी मधुर बना कर, उस सौन्दर्य के दर्शन, रासपंचाध्याई के शब्द, अर्थ, भाव-गति-चित्रों के द्वारा हमें भी करा दिये हैं। कुछ झाँकियाँ देखिए कितनी दिव्य हैं।

१ रसावेश से हर्षित लटकते हुए कृष्ण ने कुसुम धूलि से धुँधले कुंज में प्रवेश किया जहाँ कि मधुकरों के पुंज थे—

कुसुम धूरि धूँधरी कुंज मधुकरनि पुंजनि जहँ,
हुलसत रस आवेस लटकि कीन्हों प्रवेस तहँ।

इस शब्द कुंज में 'धू' की कुसुम धूलि कई बार उड़ रही है; म की पुनरावृत्ति से भौंरों की गूँजे सुनाई पड़ रही हैं। कवि ने केवल इतना ही कहा है कि भौंरे वहाँ हैं किन्तु हम स्पष्ट सुन रहे हैं कि वे भौंरे गूँज रहे हैं। पहला पद एक कुंज की तरह है। ज की पुनरावृत्ति ने उस कुञ्ज अँधेरा कर दिया है। सहसा ही दूसरा पद हुलसता हुआ आता है और श्री कृष्ण की भाँति लटक कर उस पहले पद के कुंज में प्रवेश कर जाता है।

२ सघन कुंज में चन्द्रमा की किरण झिलमिलाती काँपती हुई गिर रही है—

फटिक छटा-सी किरन कुंज रंध्रन ह्वै आई।

फ का उच्चारण ओंटों से होता है, इसलिए फटिक के कहते ही ओंठ खुल जाते हैं। छ का उच्चारण तालु से होता है इसलिए छ के कहते ही ओंठ और खुल जाते हैं और दाँतों की फटिक स्वच्छता और दिखाई देती है। बस, दंत पंक्ति-सा ही स्वच्छ, किरण का वर्णन है। लेकिन यह किरण नहीं किरन है क्यों कि कुंज के सघन रंध्र से छनती हुई आ रही है।

स्वरूप चित्र अंकित करने तक ही कवि की यह कला सीमित नहीं है, गति, भाव और नाद-सौन्दर्य को भी वह अपनाती है।

१ 'मंद मंद चलि चारु चन्द्रमा अस छवि, छाई'

इस पद में अधिक वर्ण ह्रस्व हैं, इ, उ, सब छोटे हैं; पद अत्यंत धीरे धीरे चल रहा है जैसे कि आकाश में चन्द्रमा।

२ नृत्य चंचला तरुणियों के पीछे उन की बेणियाँ डोल रही हैं, सौन्दर्य मग्न कवि की दृष्टि साम्य ढूँढ़ती है, कल्पना

कह उठती है—'मानो कि रूप की लताओं के साथ-साथ ही भौंरों की पंक्तियाँ घूम रही हों', और पूरा चित्र अंकित कर दिया जाता है।

चपल तियन के पाछैं आछैं बिलुलित बैनी,
चंचल रूप लतन सँग डोलत जनु अलि स्त्रैनी,

पाछैं और आछैं में छैं की पुनरावृत्ति, छितरी हुई अलक-छटा का रूप खड़ा कर देती है। और आछैं, बैनी, स्त्रैनी की ऐं से सारा पद, तरुणियों की बेणियों के साथ घूमते हुए भौरों की तरह गूँज रहा है।

३ रूप-भरी, गुन-भरी और प्रेम रस से भरी हुई गोपियों ने कामदेव के मद को मथन करने वाले मोहन को अपने वश में जान कर ज्यों ही अभिमान किया त्यों ही मोहन उन्हें छोड़ कर छिप गये, भक्त का गर्व, भगवान को अच्छा नहीं लगता, यह देख कर, अभिमान हीन हो कर दीन स्वरों में 'कहाँ हो, कहाँ हो?' कहती हुई तथा खग-मृग-बल्ली को भी अपने दुख से रुलाती हुईं गोपियाँ, वृन्दावन में फिर रही हैं। अब वे, अभिमान भरी, रूपभरी, गुन-भरी गोपिकाएँ अपनी उन लघुताओं की ओर ध्यान दे रही हैं, शायद जिन से रुष्ट हो कर, मोहन उन्हें तज कर गये और वे कहती हैं—

जानति हैं हम तुम जु डरत ब्रज राज दुलारे।
कोमल चरन सरोज, उरोज कठोर हमारे।

गोपिकाएँ यह नहीं कह रही हैं कि मोहन! हमारे कठोर उरोज तुम्हारे मन में चुभते हैं क्योंकि विलासिनी वे नहीं हैं, पवित्र प्रेमिकाएँ वे हैं जो कि अपने प्रिय के चरणों को हृदय से लगा कर रहती हैं।

नंददास के काव्य में 'कोमल' के स्थान पर 'कौंमल' रूप का प्रयोग मिलता है जो कि दीर्घ स्वर और अनुस्वार के कारण, संगीत के अधिक उपयुक्त है। संगीत की इस श्रुति मधुरता को अपनाने के कारण, नंददास की कविता में दीर्घ स्वर, अनुसार योग के साथ खूब आये हैं। 'सुद्ध जोति मैं रूप सदा अविकारी', 'कृण भक्ति प्रतिबन्ध तिमिर कौं कोटि दिवाकर', 'प्रेमानंद मिली सुमन्द मुसकनि मधु बरसै,' 'ता तरु कौमल कनक भूमि मनि मैं मोहत मन, 'जा कौं सुन्दर स्याम कथा, छिन-छिन नई लाई,' पौंछति अपने अंचल रुचिर दृगंचल तिय के,' 'मोहन अद्‌भुत रूप कहि न आवैं,' 'निकर विभाकर दुति मैंटत सुभ कौस्तुभ मनि अस', आदि प्रयोग 'रास–पंचाध्याई' में भरे पड़े हैं।

रास पंचाध्याई में भाव वहुत दूर तक खूबी से वहे हैं। संगीत प्रवाह विद्यमान होने से इस में माधुर्य की प्रधानता खिल गई है। सरस हृदय की सुरभित छाया में मधुरता मकरंद बिखेर रही है। रास लीला की आध्यात्मिकता तथा कृष्ण की सौंदर्य-प्रेम-माधुरी, नृत्य-संगीत-चन्द्रोदय, काव्य-कला आदि से रास पंचाध्याई की ब्रजभूमि, कालिदास की अलका की तरह सुहावनी बन गई है। उस में प्रकृति की सुन्दरता के बीच, भावना का एक रस निर्वाह होता है। प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण नंददास की रचनाओं में नहीं मिलता, किन्तु, प्रकृति को यथेष्ठ प्रेम वे करते थे, रास पंचाध्याई का चन्द्रोदय वर्णन इस का साक्षी है। संस्कृत काव्य काल में वे यदि पैदा हुए होते तो वे उन कालिदास के अनुयायी होते जिन्हें वसंत समागम से प्रफुल्लित धरणी में आनंद मिलता था, न कि उन भवभूति के जो कि 'स्निग्ध श्याम' बन प्रान्तों की अपेक्षा,

'भीषण भोग रूक्ष' वन-भागों को अधिक प्यार करते थे। नंददास के काव्य में विरल रूप में शान्त और करुण रस की भी छटा मिल जाती है—

स्रवन कीरतन ध्यान सार सुमिरन को है पुनि।
ग्यान सार, हरि ध्यान सार, स्रुति सार गुही पुनि।
कहँ हमरी प्रीति, कहाँ पिय तुव निठुराई।
मनि पखान सौं खचै, दई तै कछु न बस्याई।

किन्तु साहित्य-शास्त्रीय शृंगार की विपुलता उन की सभी रचनाओं में है। पदावली, दशमस्कंध, सिद्धांत पंचाध्याई, रास पंचाध्याई, स्याम सगाई, रुक्मिणी-मंगल, अनेकार्थ मंजरी, मान मंजरी, रस मंजरी, विरह मंजरी, रूप मंजरी, तथा भँवर गीत की गिनती उन की रचनाओं में होती है। इन में से भँवर गीत, नंददास की रचना न हो कर, कोट हिसार के कायस्थ कवि, कोकसार (रचनाकाल १५५१ ई०') के रचयिता आनंद कवि के भाई जन मुकुंद की रचना है। शेष रचनाओं में नायक-नायिका भेद का शृंगार, रीति प्रवाह की काव्य-प्रवृत्ति के अंकुरों को लिए हुए है, भिन्नता यह है कि नंददास तथा सूरदास ने नारी के सौंदर्य का ही नहीं, पुरुष के सौंदर्य का भी चित्रण किया है। बोलचाल की ब्रजभाषा का मँजा हुआ साहित्यिक रूप नंददास की रचनाओं में प्रयुक्त हुआ है। नंददास की उत्प्रेक्षाएँ, विद्यापति की उत्प्रेक्षाओं की छाया में पली हैं। सूर की-सी प्रखर कल्पना उन में नहीं है।

नंददास अपने समय के ब्रज मंडल के कृष्ण-भक्त कवियों में सब से अधिक पढ़े लिखे विद्वान कवि थे। उन्हों ने अपनी रचनाओं को साहित्यिक नियमों की दृष्टि से बनाया है। रास-पंचाध्याई में नख-शिख, शरद-चन्द्रोदय, मुरली-रास आदि

वर्णन, काव्य-शास्त्र के अनुकूल हैं। मान मंजरी में पर्यायवाची शब्दों सहित नायक-नायिका भेद तथा राधा के मान संबंधी पद, रीति प्रवाह की काव्य प्रवृत्ति को लिए हुए हैं। विरह-मंजरी में बारह-मासा है। हाव-भाव-हेलादिक को समझाने का प्रयत्न रस मंजरी में किया गया है। रुक्मिणी मंगल, दशम स्कंध, तथा रूप मंजरी में कथा कहने की प्रवृत्ति है। रूप मंजरी की रचना, तुलसी के मानस (१५७४ ई०) के बाद हुई जान पड़ती है। सरस्वती-वन्दना, वर्ण सरसता की महत्ता, रूप-वर्णन, नख-शिख-वर्णन, उत्प्रेक्षाओं के चमत्कार के साथ कथा कहने की प्रवृति उस में है। प्रत्येक रचना की कुछ निजी विशेषता है। नंददास का प्रखर पांडित्य उन का साहित्यिक ज्ञान, सौंदर्य-प्रेम, कलाकार स्वरूप, उन की रचनाओं में सम-तुलित रूप में है।

नंददास के काव्य की अन्तः प्रेरणा, शृंगार की है भक्ति की नहीं। वल्लभाचार्य ने जनता के सम्मुख भगवान की जिस रस विभूति को रक्खा था, नंददास में रीति प्रवाह की काव्य प्रवृत्ति के बीज रूप में वह अंकुरित हुई। भक्ति भावना के प्रधानता के युग में इस प्रकार के शृंगार को आशंका की दृष्टि से देखा जा सकता था इसलिए दूसरे लोगों की तरह नंददास ने भी उसे आध्यात्मिकता का चोला पहिनाया है—

जो रज, सिव अज खोजत, जोजत जोगी जन हिय।
सो रज, बन्दन करन लगीं सिर धरन लगीं तिय।

किन्तु जो लोग भ्रम में न पड़ने वाली 'सूक्ष्म दृष्टि' रखते हैं उन्हें श्रीमद् भागवतकार की विशेषताएँ नन्ददास में ही नजर आने लगती हैं। नंददास में जीवन की सरसता है, किन्तु वह अनेक रूपता नहीं, सर्व जनीन धर्म का वह विशुद्ध

रूप नहीं जो कि भक्ति की तीव्रतानुभूति से प्रकट हो कर तुलसी में आया है और उन्हें एक विशेष अर्थ में इस क्षेत्र का सर्व प्रिय कवि बना देता है। नंददास, भक्ति जनित अन्तः प्रेरणा से काव्य रचना यदि करते तो अष्ट छाप में 'सागर' की उपाधि से वे भी विभूषित होते और निश्चय ही उन्हें भी काव्य जगत में सूर तथा तुलसी के साथ स्थान मिलता और तुलसी को नंददास से ग्लानि भरे शब्दों में यह कहने की आवश्यकता न पड़ती—

घर को परनो परिहर्यो, कहौ कौन उपदेस ?
तुलसी या सों जानिये, नहीं धर्म को लेस !

नंददास का यह पद भी इसी ओर संकेत कर रहा है कि नंददास रसिक थे।

पहिले तौ देखौ आइ मानिनी की सोभा लाल,
ता पाछें लीजिये मनाइ प्यारे हो गोविन्द,
कर पै दिये कपोल रहीं नयन मूँदि,
कमल बिछाय मानो सोयो है पूरन चंद,
रिस भौंहें मानो भौंर बैठे अरबरात,
इन्दु तरे आयो मकरंद भर्यो अरविन्द,
नंददास प्रभु ऐसी प्यारी को रुसैये बलि,
जा के मुख दीखेते मिटत सबै दुख द्वन्द !

नंददास प्रधानतः यौवन के कवि हैं। दाऊ के खिझाए हुए बाल कृष्ण के सिर पर मोहित होने वाले कवि वे नहीं हैं। उन्हों ने कृष्ण को यशोदा से 'मैय्या कबहिं बढ़ैगी चोटी', पूछते नहीं सुना। उन्हों ने अपने यौवन के प्रथम प्रहर में रास लीला करते हुए युवा मोहन को अपने हृदय में देखा और उसी की पूजा की। मोहन की तरुणाई पर एक गोपिका की

भाँति वे बिक गये। रसावेश में वे इतने तल्लीन थे कि उनका ध्यान इस बात की ओर भी नहीं गया कि उनके प्रिय मोहन शिशु भी कभी थे। सूर में बाल लीला समप्त कर लेने के पश्चात् यौवन में पदार्पण कर कृष्ण, नंददास में आते हैं।

नंददास, अंतरंग और वहिरंग दोनों प्रकार के सौंदर्य के उपासक थे, सूरदास की कविताओं की भाँति दो श्रेणियों में उनकी कविता नहीं बाँटी जा सकती; एक तो वह श्रेणी जिस में कविता, कवि-हृदय की स्वाभाविक अभिव्यक्त अनुभूति होने के कारण, अपने भावों के माधुर्य से मधुर हो जाती है, और दूसरी वह जिस में भावों में तो मधुरता रहती नहीं, शब्दों में भी नहीं रहती। नंददास की कविता में जिन स्थलों पर भाव मधुर नही है वहाँ उन्हों ने भाषा को 'कोटि जतनन' से सजाया है, जिससे उनका काव्य, नीलम जटित सुवर्ण की भाँति स्निग्ध शीतल हो गया है। भावों और भाषा के इस मणि-कांचन प्रयोग से नंददास का काव्य, कालिदास और जयदेव की परंपरा में आता है। उस में भक्ति जनित अन्तः प्रेरणा की तीव्रता न मिलकर रूप-सौंदर्य-प्रेम की प्रतीक मूर्ति मान कविता, परम रसिक रूप मंजरी के आग्रह निर्वाह का समर्थ प्रयत्न मिलता है, किन्तु इस प्रयत्न में नंददास को जो सफलता मिली है उस पर जनता की सही, 'और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया' के रूप में पड़ी है। नंददास के काव्य का प्रत्येक पद एक मुक्तक है। काव्य-माला की लड़ी एक मोती है। ग्रंथित और मुक्तक दोनों ही वह एक साथ हैं। संगीत और माधुर्य, चित्र और स्पंदन, नंददास के काव्य की ऐसी विशेषताएँ हैं जो कि जयदेव के समकक्ष उन्हें ला बिठाती हैं। गीत गोविन्द से केवल एक बात में वे कम थे, जयदेव ने

अपने भक्ति निःसृत मधुर संगीत के सहारे राधा को खोज निकाला था किन्तु नंददास अपने मजे हुये हाथों में 'कोटि जतनन' से पोही हुई नीलम उज्ज्वल रसमाल के लिए उस की बाट जोहते ही रह गये।

१६—नरोत्तमदास

श्री मद्भागवत् के दशम स्कंध के अस्सी एकासी अध्याय में आई कृष्ण और सुदामा की कहानी का आधार ले कर हिन्दी में कई सुदामाचरित यद्यपि लिखे गये पर नरोत्तमदास (ल० १५०० ई०-१५७५ ई०) कृत सुदामाचरित (१५२५-४२) को जो ख्याति और लोक प्रियता मिली, वह किसी भी दूसरे सुदामाचरित को नहीं प्राप्त हो सकी। भागवत में सुदामा-चरित का सुन्दर वर्णन मिलता है। पर नरोत्तमदास के सुदामाचरित्र की कई मौलिक विशेषताएँ हैं। चने की कहानी, चावल की पोटली फटने की घटना, कवि की मौलिक उद्भावनाएँ हैं। शहर की जगर-मगर का विशद वर्णन नरोत्तम-दास ने किया है, भागवत में सुदामा केवल एक दिन ही द्वारिका में रहते हैं नरोत्तमदास के सुदामाचरित में कई दिन रहने का उल्लेख मिलता है। इस से कथा वर्णन में स्वाभाविकता आ गई है। नरोत्तमदास ने काव्योपयुक्त अंशों को चुन कर उन्हें विस्तार दिया है और भागवत की कथा के मुख्य उपदेश की रक्षा करते हुए भी सुदामाचरित को अधिक मर्मस्पर्शी, सजीव और स्वाभाविक बनाया है।

अन्य कवियों ने भागवत की कथा को संक्षेप में ही लिया है और कोई भी नवीन उद्भावना नहीं की। इसी से उन के सुदामाचरित लोकप्रिय न हो सके। नंददास के नाम से ख्यात सुदामा चरित में कवि ने भागवत की कथा को काफी परिष्कृत किया है। यदाकदा अपनी मौलिकता भी दिखलाई है। शब्दों का संगीतमय चयन भी किया है किन्तु फिर भी इस में वह संजीदगी नहीं जो कि नरोत्तमदास के सुदामाचरित में घरेलू जीवन के तथा एक दीन ब्राह्मण के हृदय की भावनाओं के स्वाभाविक चित्रण में है। क्षेमकरण मिश्र ने तो बहुत ही चलते ढंग से इस कथा को समाप्त कर दिया है। भक्ति और प्रेम का प्रदर्शन इन कथाओं में भले ही समान हों किन्तु वर्णन और विवरण की सुकुमारता ने नरोत्तमदास के सुदामाचरित को अलग ही निखार दिया है। चित्रण की दृष्टि से नरोत्तमदास कृत सुदामाचरित बहुत सुन्दर रचना है। स्वच्छ ललित प्रवाहमयी भाषा में स्त्री स्वभाव, संस्कार भाव, गरीबी, ऐश्वर्य तथा आदर्श प्रेम-का बहुत स्वाभाविक और उत्कृष्ट वर्णन नरोत्तमदास ने किया है शिवसिंह के शब्दों में 'सुदामाचरित बनाया है, मानों प्रेम समुद्र बहाया है।

१ कोदों सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती,
सीत वितीत जौ सिसियात तों हौं हठती पै तुम्हें न हठौती,
जो जनती न हितू हरि सो तो मैं काहे को द्वारिकैं पेलि पठौती,
या घर तें न गयो कबहूं पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती।

२ द्वारिका जाहु जू, द्वारिका जाहु जू, आठहु जाम इहै जक तेरे,
जौ न कहो करिये तो बड़ो दुख, जैये कहाँ अपनी गति हेरे,
द्वार खरे प्रभु के छरिया, तहँ भूपति जान न पावत नेरे,
पान सुपारी तैं देखु विचारि कै, भेंट को चार न चाऊँर मेरे।

३ सीस पगा न झगा तन में प्रभु जानै को आहि, बसे केहि ग्रामा,
धोती फटी-सी, लटी दुपटी, अरु पाँय उपानह की नहिं सामा,
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल, देखि रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा,
पूछत दीन दयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा।

४ ऐसे बिहाल बेवाइन सों भये, कंटक जाल गड़े मग जोये,
हाय ! महादुख पायों सखा, तुम आये इतै न कितै दिन खोये?
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करके करुना निधि रोये,
पानि परात को हाथ छुयो नहिं, नैननि के जल सों पग धोये,

५ तन्दुल माँगत मोहन, विप्र संकोच तें देत नहीं अभिलाखे,
है नहिं पास कछू कहि कै तेहि गोपि घनी विधि बाँख में राखे,
सो लखि दीनदयालु तहाँ, 'यह चोरी करी तुम', यों हँसि भाखे,
खोलि कै पोट अछोट मुठी गिरिधारन चाऊर चाउ से चाखे।

६ जगर मगर जोति छाइ रही चहुँ दिसि,
अगर-बगर हाथी छोड़न को सोर है,
चौपर को वनो है बाजार, पुनि सोनन के
महल, दुकान की कतार चहुँ ओर है।
भीड़ भाड़ धकापेल चहुँ दिसि देखियत,
द्वारिका तें दूनो यहाँ प्यादेन को जोर है।
रहिबे को ठाम है न काहू सौ पिछान मेरी,
बिन जाने बसे कोऊ हाड़ मेरे तोर है।

७ चौतरा उजार को चामीकार धाम कियो,
छानी तौ उपारि डारी छाई चित्रसारी जू,
जो हौं होतो घर तो पै काहन को उठन देतो,
होनहार ऐसी खोटी दसाई हमारी जू,
हौं तो हो न काहू लोभ लाहु को दिखाइ वाहि,

महल उठाय लयो हाय सुख गारी जू,
लामी लूमवारी, दुःख भूख को दलनहारी
गैय्या वनवारी काहू सोऊ मारि डारी जू,

इन मनोवैज्ञानिक सहज-स्वाभाविक मृदुल चित्रों में कवि का कौशल भी विद्यमान है। सवैय्यों और कवित्तों में भाव का निखार अंतिम पंक्ति में आता है। औत्सुक्य बनाये रखने के लिए संपूर्ण प्रसंग का प्राण शब्द अंतिम स्थल पर तीसरे छंद में आया है। दीनबंधु दीनानाथ किसी भी गरीब के दयनीय वर्णन को सुन कर पिघलते ही पर उस गरीब का नाम आरंभ में ही यदि बता दिया जाता तो मित्रता के नाते तो कृष्ण अवश्य आगे बढ़ते पर भाव का करुण रूप आगे न बढ़ पाता कवि को दैन्य के चित्रण के प्रभाव का तीव्र बनाये रखने के लिए गुंजायश न रह जाती। करुण भाव को कृष्ण के हृदय में उद्दीप्त कर कवि ने द्वारपाल से नाम 'सुदामा' तब कहलावा है जब कि वह जो कुछ उसे कहना था कह चुका। आकुल कृष्ण अपने मित्र से मिलने नंगे ही पाँओं स्वयं दौड़ पड़े। सुदामा को भीतर ला आसन दे प्रेमाश्रुओं से ही पाँव धो डाले 'पानि परात 'को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोये।'

नरोत्तमदास पहले व्यक्ति कृष्ण काव्य धारा में हैं जिन्हों ने कथा लिखने की प्रवृत्ति दिखलाई। शिवसिंह सेंगर के अनुसार बाड़ी जिला सीतापुर के रहने वाले वे थे। पर गंगा और राम गंगा के संगम पर भी एक बाड़ी है और भिखारीदास के पूर्वज भी एक नरोत्तमदास हुए हैं। ध्रुवचरित भी नरोत्तमदास की रचना बताई जाती है पर वह मेरे देखने में नहीं आई।

सुदामाचरित खंडकाव्य है। खंडकाव्य में किसी महाकाव्य

में वर्णित एक प्रधान घटना का आत्मपर्यवसित (स्वयं में पूर्ण) स्वतंत्र वर्णन होता है। कथा कहने की ही ओर कवि का ध्यान होता है। अधिक घटनाओं के समावेश और प्रकृति चित्रण के लिए उस में अधिक गुंजायश नहीं रहती। कवि को जो कुछ कहना होता है सीधे ही नाटकीय ढंग से कह देता है। जो बातें पात्रों के कथोपकथन द्वारा नहीं कही जा सकतीं उन्हें वह विवरण के द्वारा संवद्ध रूप में स्वयं कह देता है। पुरानी परंपरा के काव्यों में मंगलाचरण, उद्देश्य, उपदेश, आरंभ, यत्न, प्राप्ति आशा, नियताप्ति, फलागम, महात्म्य, संदेश सभी विद्यमान रहते हैं। इन के साथ-साथ कथा प्रवाह के सहारे पात्रों का चरित्र चित्रण होता है। एक रस प्रधान होता है किन्तु अन्य रसों के छींटे भी दिये जा सकते हैं। महाकाव्य में विवरण की अपेक्षा वर्णन पर विशेष बल दिया जाता है पर खंड काव्य में विवरण का ही प्राधान्य होता है। स्थान संकोच के कारण, दृश्य और मानव व्यापार स्थलों का भी वर्णन, खंडकाव्य में परिमित होता है। प्रमुख व्यक्ति या व्यक्तियों के चरित्र अथवा चरित्रों की कुछ विशेषताओं का उल्लेख भर खंड काव्य में संभव है। वर्णित तथ्य, एक लघु आख्यायिका के तथ्य के समान एक ही होता है। कथोपकथन मार्मिक और चुस्त रहता है। रचना के उद्देश्य को निष्पति फलागम के साथ काव्य के अंत में होती है।

सुदामा चरित की रचना खंडकाव्य की दृष्टि से सफल कही जावेगी। उस में अवधी-बैसवाड़ी की पुट लिए व्रजभाषा का सहज स्वाभाविक भाव प्रवण रूप है। विवरण प्रधान इस रचना में गुजराती भाषा में रचे गये कई सुदामा चरितों से भी अधिक भाव प्रवणता है। नरोत्तमदास ने साधारण जीवन से

ऊपर उठे हुए जीवन को चित्रित किया है। गरीबी और ऐश्वर्य के बीच वैषम्य दिखलाते हुए भी संतोष, मैत्री और विश्वास तथा भक्ति के द्वारा साम्य स्थापित किया है। साधारण और अलौकिक के समन्वय के बीच कान्ता सम्मत उपदेश उस में घरेलू भाषा की सहज सुंदरता में संलाप के ढंग से आया है। द्वारिका तथा सुदामापुरी का ऐश्वर्य भागवत में जैसा है उस से कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा कर सुदामा चरित में चित्रण किया गया है। सुदामा के ऐश्वर्यमय जीवन का चित्रण अतिरंजना पूर्ण हो गया है। अतिमानवीयता के दर्शन वहाँ होते हैं जहाँ कि सुदामा को श्रीकृष्ण की अलौकिक शक्ति के प्रभाव से एक ही रात में विदर्भ से द्वारिका पहुंचा दिया गया है। इस यात्रा में प्रकृति के दृश्यों को देखने का अवसर भी सुदामा को नहीं मिलता। ऐसा कर के कवि ने सुदामाचरित को महाकाव्य की ओर बढ़ने से तो अवश्य रोक लिया है पर साथ ही मानव-व्यापार के चित्रण से जो स्वाभाविकता अन्यथा आती वह नहीं आ पाई। सुदामा चरित का प्रधान रस शान्त है, हास्य, करुणा, अद्भुत और भयानक उस में अंगी बन कर आये हैं। करुणा प्रधान संचारी के रूप में आया हैं, स्वाभाविक मर्म-स्पर्शिता के साथ भक्ति के छओं रस इस रचना में आ गये हैं।

सुदामाचरित के कथोपकथनों में घरेलूपन की स्वाभाविक भावुकता है। सुदामा और उन की स्त्री (सुशीला) का संलाप उसी रूप में है जिस रूप में वह हो सकता है। तर्क का आश्रय भी लिया गया है कथानक में उचित संबंध निर्वाह है। कवि में कथा कहने की प्रवृत्ति है।

सुदामा सात्विक वृत्ति के विरक्त और संतोषी ब्राह्मण हैं। गृहस्थाश्रम की सांसारिकता का जो कुछ प्रभाव उन पर है

वह उन की स्त्री की ही देन है। पत्नी का सतत आग्रह उन्हें कृष्ण के पास भेजता है। दरिद्रता से विकल ब्राह्मण संकोच से अपने आप में सिमट जाता है। मैत्री का दुरुपयोग वह नहीं करना चाहता, पर गाँव लौटते समय रह-रह कर वह यह सोच कर क्षुब्ध भी होता है कि कृष्ण ने उसे आखिर कुछ भी नहीं दिया। लेकिन इस में भी उसे संतोष है कि कृष्ण उसे वैभव की चकाचौंध से दूर ही रखना चाहते हैं। सुदामा के मुख से कृष्ण के प्रति खीझ उन के प्रति उस के प्रेम को ही व्यक्त करती हैं। कितना अद्भुत है दीन सुदामापुरी का वैभव, जिसे देख कर सुदामा डरता है, घबराता है, एक नई ही द्वारिकपुरी के भ्रम में पड़ता है और इस सब को स्वप्न-गत-सा दृश्य समझ कर अपने पुराने जीवन के उपकरणों को न पा दुखित होता है।

सुदामा की स्त्री (सुशीला) में ब्राह्मणत्व का तेज है। दरिद्रता उसे अधिक अखरती है। वह एक सामान्य व्यावहारिक बुद्धि की पतिपरायणा नारी है। संतान के दुख के लिए विकल मातृत्व का तकाजा ही उसे अपने पति को कृष्ण के पास भेजने के लिए लाचार करता है। कृष्ण की दी हुई आकस्मिक संपत्ति से वह, प्रसन्न होती है। पर इस प्रसन्नता में अपने पत्नी-धर्म को नहीं भूल जाती।

कृष्ण एक शक्तिशाली विनोदी सखा के रूप में हमारे सामने आते हैं। सुदामा को अपनी दरिद्रता की कटुता न अखरे, मित्र को सब के हृदयों में सम्मान मिले, इसलिए सब के सामने सुदामा के चावल चबाते हैं। मित्रता में अशिष्टता न आवे, मनोरंजन रहे इसलिए प्रत्यक्ष न दे कर अनजानी रीति से सुदामा को वैभव प्रदान करते हैं। जिस

वैभव को द्वारिका में देख कर सुदामा आश्चर्य चकित रह गये थे चंद दिनों में वह उन के ही पद-तल पर लोटने लगता है। कृष्ण चरित्र का उत्कर्ष उन की निस्सीम भावुकता, उदारता एवं पर संवेदनाशीलता में है।

दरिद्रता और संपन्नता की परस्पर विरोधिनी अवस्थाओं को आमने-सामने रख कर, परिवर्तनशील नियति का अद्भुत चमत्कार दिखलाते हुए भी भाग्य और पुरुषार्थ, आदर्श और यथार्थ का समन्वय किया गया है। मित्रता के भाव में ऊँच गरीब अमीर का भेद नहीं रह जाता। सच्ची ईश्वर निष्ठा, आत्म-सम्मान और व्यावहरिकता के समन्वय से गरीब के भी दिन फिर सकते हैं यही आशामय अमर संदेश अपने सुदामा-चरित के द्वारा नरोत्तमदास दे गये हैं।

२८—रसखान-घनआनंद-चन्द्रकुँवर

रसखान की कविताओं के अध्ययन से पता चलता है कि वैभव को उन्हों ने देखा किन्तु उस से उन की तृप्ति नहीं हुई। बढ़ती हुई आकांक्षा से उत्पन्न हुई अशान्ति को दूर करने के लिए धर्मशास्त्रों का अध्ययन पंडितों, विद्वानों, और संतों का सत्संग भी उन्हों ने किया। सभी प्रकार के लोगों के संपर्क में आकर जीवन की धाराओं को उन्होंने वास्तविक रूप में रहीम की तरह पहिचाना। कहीं भी जब उन्हें शान्ति प्राप्त न हुई तब सामयिक साधारण धरातल से ऊपर उठी हुई

भक्ति की लहर में बढ़ने का अवसर आया और प्रेम के सच्चे लोक में तन्मय होकर शान्ति के राज्य में वे पहुँच गये। रस-खान की शान्ति का लोक, संकीर्ण समाज के बंधनों से उन्मुक्त है। मानव उस में पहुँच कर शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। जो चाहे जिस नाम से उस धारा को पुकार सकता है। विशेष नाम उसे सीमित बंधन में नहीं बाँध सकता। इस लोक में साहचर्य सामीप्य की सुखानुभूति सरल किन्तु गंभीर है। यह वह धारा है जो कि सूक्ष्म चिन्तन और स्थूल उपासना दोनों को छूती हुई, पृथ्वी और आकाश में एक साथ बहती है। अहीर की छोहरियाँ जिस कृष्ण को छछिया भर छाछ पर नाच नचाती हैं वह शेष-महेश-गणेश सभी का ध्यातव्य है। जो कृष्ण, वृन्दावन के कुंजों में छिपा बैठा, राधा के पाँव पलो-टता है वही वेद-उपनिषद और पुराणों में भी व्याप्त है। रस खान को छाछ के लिए नाचते और राधा तथा गोपियों के साथ तरह-तरह की लीलाएँ करते, तथा गोप देश में मुरली बजाते कृष्ण से विशेष प्रेम है। यह कृष्ण रसखान के हृदय में सौन्दर्य से सहज ही बैठ जाता है। मुरली की मीठी तानों से अंग-अंग को पुलकित कर देता है।

समाज के शुष्क बंधनों में सरसता का संचार करके, रस खान का कृष्ण जीवन को आनंदमय बना देता है। वैभव की अहमन्यता उसे छूती नहीं। मानव अभिमान को तोड़-फोड़ कर सार्व भौम प्रेम के धरातल पर भी जीवों से व्यवहार वह करता है। वैभव, सजधज कर आने पर भी अहंकारी उसे नहीं बना देता। सरल जीवन उसे इतना प्रिय है, निष्कपट ग्रामीणों से उसे इतना प्रेम है कि वैभव शाली द्वारिका नगरी के स्वर्ण-महलों में भी उसे अपने उन पुराने दिनों की याद

आती है जब कि वह लकुटी और कामरिया को लेकर नंद की गाय चराने में, ग्वालों के साथ आनन्द पाता था; गोपियों को अपनी सुरीली बाँसुरी की तानों से मोहित करता था। दही बेचने वालों का दही फोड़ कर हँस देता था। पढ़ने से जी चुरा कर, माखन रोटी में मस्त रहता था। होरियों के तरह-तरह के गीत गा कर लोगों को रिझाता था। तरह-तरह से नटों के वेश धारण कर ब्रजवासियों को आनन्द देता था और राधा के साथ एकन्त में प्रेम की बातें कर प्रसन्न रहता था। राज्य की विडम्बना उसे तब नहीं थी। छल कपट से काम नहीं पड़ता था।

अपने कृष्ण में जीवन के इन तरल किन्तु सरल तत्वों को पा कर रसखान ने उन्हें अपनी भावनाओं के चटकीले दिव्य सरस पुष्प चढ़ाये हैं। सदा विकसित रहने वाले ये सुमन ब्रजभाषा काव्योद्यान की अपूर्व सौंदर्य वृद्धि करते हैं। जीवन के गूढ़ तत्व इन में सरल से सरल ढंग से निहित हैं। दार्शनिकता का आवरण इन पर नहीं चढ़ाया गया है, किन्तु ऊँची श्रेणी की भावुकता ने इन्हें दर्शनों की गहराई दी है। सामाजिक संकीर्णता के कटघरों में इन्हें बन्द नहीं होने दिया है किन्तु फिर भी मर्यादा का उल्लंघन वे नहीं करते। रसखान की गोपियों कुलकानि की छूट जाने की बात तो करती हैं किन्तु परिस्थिति के आने पर पूर्ण रूप से मर्यादा का पालन करती हैं। हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेम यदि है तो इस का उपयोग रसखान, घरेलू जीवन को छिन्न-भिन्न करने अथवा समाज की मर्यादा को तोड़ देने के लिए नहीं करते। मीराबाई समाज की उपेक्षा कर प्रेम के संगीत राज्य में दीवानी होकर विचरण करती हैं किन्तु रसखान, गृहस्थों के बीच रह कर

कृष्ण लीलाओं के सौंदर्य में आनन्द के अश्रु बहाते हैं। विरह की विकलता का अस्तित्व उनके लिए है ही नहीं। कृष्ण छवि में वे इतने तन्मय हो जाते हैं कि एक-एक लीला सजीव होकर दर्शन का आनन्द उन्हें दे जाती है। घरों की जीवनी में ही प्रेम-पुंज के दिव्य दर्शन जब हो जाते हैं तब उस की उपेक्षा कर स्वतंत्र हो जाने की आवश्यकता कहाँ रह जाती है; बल्कि उन की रक्षा में ही सुख है जिससे अधिकाधिक लीलाओं की सरसता सामने आ सके। प्रेम की भूमिका में जो बाधा सास-ननद के आ जाने से पड़ने लगती है उसे संकेत से ही हटा कर रसखान की गोपी मर्यादा की रक्षा कर लेती है। हृदय की भावनाओं को छिपाने का यत्न अपने लिए गोपियाँ करती हैं किन्तु दूसरे का दुख उन से सहा नहीं जाता। राधा की विकलता उन के लिए असह्य है। उस की वेदना गारुड़ी कृष्ण से ही दूर हो सकती है। गोपियाँ पूर्ण रूप से निश्चय कर लेती हैं कि यदि इस गारुड़ी ने राधा के विष को उतार दिया तो ठीक है अन्यथा नंद के द्वार पर ही हलाहल पी कर प्राण त्याग देंगी—'राधिका जी है तो जी हैं सबै न तो पी हैं हलाहल नंद के द्वारै।"

सौन्दर्य के प्रभाव और मुरली के स्वरों की सरसता का वर्णन बड़े विस्तार के साथ रसखान ने थोड़े शब्दों में किया है। दान-लीला, सखी-शिक्षा, चीर-हरण, नाग-मंथन, यशोदा का बाल-प्रेम, कुंज में विहार, गोपियों द्वारा उद्धव की उपेक्षा कंस बध कुब्जा-प्रेम, हाथियों के दाँत तोड़ने तथा द्वारिका में व्रज के दिनों की याद इत्यादि सभी लीलाओं को रसखान ने संगीत से सजीव किया है।

विरक्ति, थोथे ज्ञान की तुच्छता, प्रेम के लौकिक, पार-

लौकिक दोनों पक्षों की महानता तथा एक निष्ठता के भावों को थोड़े किन्तु सुन्दर शब्दों में रसखान ने अपने कवित्त सवैय्यों में प्रदर्शित किया है। पुनर्जन्म में रसखान का विश्वास एक आदर्श भक्त हिन्दू की भाँति था, वे यह भी जानते थे कि चराचर सृष्टि में जीव अनेक रूप धारण कर सकता है किन्तु आनंद की भावना का तिरोभाव रसखान को असह्य है। मुक्ति की उन्हें कोई चाह नहीं। अनेक प्रकार के दुर्गम योग, तप-तीर्थ-व्रत इत्यादि की भी वे चाह नहीं करते। तुलसी की भाँति उन की भी एक निष्ठ भावना, आराध्य के प्रेम को चाहती है। कृष्ण की सरस लीला भूमि व्रज की शोभा ने उन की भावुकता को इस सीमा तक चैतन्य कर दिया था कि उस भूमि में मनुष्य-पशु-पक्षी ही नहीं पत्थर भी होने के लिए तैयार हैं।

मानुप हों तो वही रसखानि वसौ व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन,
जो पसु हों तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन,
पाहन हों तौ वही गिरि को जो धर्यौ कर छत्र पुरन्दर धारन,
जो खग हों तौ बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन।

भावुक की इस प्रेम-भावना के लिए पूर्व संस्कार और तत्कालीन भक्ति धारा का प्रवाह दोनों ही वरदान सिद्ध हुए हैं।

प्रेम-सौन्दर्य के संयोग सरोवर में तैरने वाले स्वर्ण हंस रसखान हैं। वियोग उन की विभूति नहीं, संयोग उन का मकरंद है। कृष्ण तथा गोपियों की संयोग लीलाओं के दर्शन वे नित्य करते हैं और नित्य उस को काव्य रूप देते हैं। उन्हें दिनचर्या में भाग ले कर, कीर्तन-अर्चन विधान में सम्मिलित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती इसलिए वे गेय पदों में अपनी सौन्दर्यानुभूति को नहीं प्रकट करते वरन् करते हैं

कवित्त-सवैय्यों में। अष्टछाप के कवियों से भिन्न शैली रसखान की है वे कवि परंपरा में है और भक्त परंपरा में भी। विषय की दृष्टि से कृष्ण काव्य की शैलो और भावना की दृष्टि से राम-काव्य के भक्त कवि तुलसी की शैली की परंपरा रसखान की है, जीवन-विधान की दृष्टि से वे संत भक्त हैं। उन के लिए गंगा का वही महत्व है जो यमुना का, कृष्ण का वही गौरव है जो राम अथवा शिव का। प्रेम-सौन्दर्य के उस ऐश्वर्य शाली लोक में वे पहुँच जाते हैं जहाँ रवीन्द्रनाथ पहुँचते रहे हैं, जहाँ विरह नहीं, विरह-जन्य-ताप भी नहीं है वरन है। सामीप्य सुख की परमानुभूति की शीतल शान्ति जो कि प्रेम और भक्ति दोनों की श्लाघनीय संपत्ति है। घने विश्वास की गम्भीरता, श्रद्धा और सम्मान को प्रेम की सतह से धरातल पर जब लाने लगती है तब प्रेम का ही नाम भक्ति हो जाता है। घने विश्वास की श्रद्धा से रहित प्रेम के दर्शन रसखान के काव्य में होते ही नहीं हैं इस लिए उन्हें भक्तों की पंक्ति से उठा कर रीति परंपरा के उन्मुक्ति प्रेमी कवियों के समीप केवल इसलिए पहुँचा देना कि उन्हों ने पद शैली को न अपना कर कवित्त शवैय्या शैली को अपनाया है और प्रेम को ही ईश्वर माना है रसखान के साथ अन्याय करना है। रसखान का महत्व इस बात में नहीं है कि पद शैली को छोड़ कर कवित्त सवैय्या शैली को उन्हों ने अपनाया है वरन् इस बात में है कि उन्हों सात्विक प्रेम को भावना की उस पवित्र भूमि में सौन्दर्य के उस दिव्य लोक में पहुँचाया है जहाँ उस के सरस पीयूष वर्षी स्वर, भक्तों और कवियों को एक समान आनन्द दे रहे हैं कवि उन्हें भक्त और भक्त उन्हें कवि के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

(२)

हिन्दी के उन गिने चुने विरल कवियों में घनानंद (ल१५७५-१६५८ ई०) हैं जिन की कविता उच्च कोटि की है। सौन्दर्य के साथ भक्ति की भावना का समावेश घनानंद में रसखान की हीं भाँति मिलता है। बिहारी भी बहुत सुन्दर शृंगारी कवि हुए हैं किन्तु बिहारी शुद्ध शृंगारी थे उन की रचनाएँ शुद्ध साहित्यिक हैं। बिहारी भक्त भी थे या नहीं यह उन के जीवन से नहीं मालूम होता। बिहारी की रचनाओं को पढ़ने से मन पर यह प्रभाव नहीं पड़ता कि बिहारी भक्त रहे होंगे। बिहारी में प्रार्थना के अतिरिक्त एक ही भावना में धार्मिक भावना और शृंगारी भावना नहीं मिलेगी। घनानंद में प्रेम की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यंजना किसी न किसी अंश तक अनुभूति की आध्यात्मिकता के साथ है। घनानंद की स्वतः प्रेमानुभूति थी जो धामिक थी इसी के कारण कृष्ण और गोपिकाओं की क्रीड़ाओं को भिन्न-भिन्न रूपों में देखने का अवसर उन्हें मिला है। जहाँ तक इन क्रीड़ाओं का अभिव्यंजना से संबंध है वे शुद्ध लौकिक हैं किन्तु कवि की अपनी धार्मिक भावनाओं की पहुँच इन लीलाओं तक है कवि ने उन लीलाओं का वर्णन धार्मिक अनुभूति के कारण किया और कई स्थलों पर स्पष्ट संकेत भी दे दिया है कि आध्यात्मिक दृष्टि से यह काव्य लिखा जा रहा है—'लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहे तो मेरे कवित्त बनावत' इसी प्रकार का संकेत है।

घनानंद की रचनाएँ भक्त की रचनाएँ होते हुए भी साहित्यिक आवश्यकताओं से पूर्ण हैं। बिहारी बहुत अच्छे कलाकार हैं इस में संदेह नहीं, किन्तु जो भावुकता, जो स्वाभाविक

सजीवता घनानंद में है, विहारी में भी वह नहीं। बिहारी शास्त्रीय कवि थे। शब्दों की तोड़ मरोड़ के साथ उन के अप्रचलित रूपों का प्रयोग भी बिहारी में मिलता है। घनानंद के काव्य में ढूँढने पर भी ऐसे स्थल नहीं मिलेंगे जहाँ उन्हों ने ऐसा किया हो। सहज स्वाभाविक, प्रवाहयुक्त सजीव प्रांजल भाषा पर घनानंद का असाधारण अधिकार है। बोलचाल की भाषा में अधिकारी हाथों के लिए शब्द ठहरे रहते हैं जिन के छूते ही भाषा सजीव हो जाती है घनानंद ऐसे ही लोगों में से हैं। उन्हों ने बोलचाल की चलती भाषा का साहित्यिक प्रयोग कर उसे थोड़े में बहुत कह देने की असाधारण सामर्थ्य दी है। भाषा की समास और समाहार शक्ति से तरह-तरह के अनुभाव चित्र अंकित करने के कारण विहारी श्रेष्ठ कलाकार हैं किन्तु प्रेम गहनता, प्राजल भाषा की प्रवाहमय सजीवता और हृदय के मार्मिक भावों के सौन्दर्य विधाता होने के कारण ब्रजभाषा सरस्वती ने घनानंद को जयमाला पहिनाई है।

प्रेम की बारीकियों को घनानंद ने जितना देखा है उतना और किसी ने नहीं देखा। अन्य शृंगारी कवियों में शृंगार के वर्णन में आचार्यत्व का जितना ध्यान अधिकतर रहा है उतना साहित्य का नहीं। देव, मतिराम, पद्माकर, ठाकुर इत्यादि ने साहित्य शास्त्र के लक्षण पहिले लिखे और बाद को उदाहरण के लिए कविता लिखी। वे न साहित्यशास्त्र में ही आगे बढ़ सके न उन की कविता स्वछंद ही रह सकी। लक्षणों के लिए कविता लिखी गई तो कवि का स्वाधीन रूप विकृत हो गया और उन की प्रतिभा का विकास नहीं हुआ। घनानंद ने ऐसा न कर स्वतंत्र रूप से रचना की। जो चाहे उन की कविता में

लक्षण ढूँढ़ने ले, स्वयं उन्हों ने लक्षणों को अपना उद्देश्य नहीं बनाया। उन्होंने अपनी कल्पना और अनुभूति को स्वच्छंद मार्ग दिया यही कारण है कि उन की कविता सुन्दर स्वच्छंद और मार्मिक हैं हृदय पर ही पहुँच कर चोट करती है।

चलि आइ सदा रस रीति यहै किधौं मो निरमोही को मोह नयौ,
घन आँनँद प्रान हरै हँसि जान न जानि परै उघरो उनयो,
चित चाह निवाह की बात रहौ हित कै नित ही दुख दाह दहौ,
उर आव विसास न आस तजै बसि एक हि वास विदेस भयो!

चेटक रूप रसीले सुजान दई बहुतै दिन नैक दिखाई,
कौंध मैं चौंक भरे चख हाय कहा कहौ हेरनि ऐसें हिराई,
बातैं बिलाय गईं रसना पै हियो उमग्यो कहि एकौ न आई
साँच कि संभ्रम हौ घन आँनँद सोचनि हीं मति जात हेराई,

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन जा मधि सोधि सुधार है लेख्यो,
ताही के चारु चरित्र विचत्रनि यों पचि कै रचि राखि विसेष्यो
ऐसो हियों हित पत्र पवित्र जु आन कथा न कहूँ अवरेख्यो
सो घन आँनन्द जान अजान लों टूक कियो पर बाँचि न देख्यो!

पर काज हि देह को धारि फिरौ परजन्य जथारथ है दरसौ,
निधि नीर सुधा की समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ,
घन आँनँद जीवन दायक हौ कछु मेरियौ पीर हिएँ परसौ,
कबहूँ वा विसासी सुजान के आँगन मो असुवानिहिं लै बरसौ,

ए रे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन, बारी
तो सों और कौन मनै ढरकौंही बानि दै
जगत के प्रान ओछे बड़े सो समान घन
आँनँद निधान सुखदानि दुखियान दै,
जान उजियारे गुन भारे अति मोही प्यारे

अब हैं अमोही बैठे, पीठि चहिचानि दै,
विरह विथा की मूरि आँखिन मैं राखौ पूरि
धूरि तिन पाँयन की हा हा नैकु आनि दै।

अंतर हौ किधौ अंत रहौ? दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं,
आगि जरौं अकि पानी परौं, अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं!
जो घन आँनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहा प्राननि पीरौ,
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरनी में धसौं कै अकासहिं चीरौं।

दृग दीजिये दीसि परौ जिनि सौ इन मोर पखौवनि को भटकै,
मनु दै फिरि लीजिए आपन हीं जु तहीं अटकै न कहूँ भटकै,
करि बन्दन दीन भनै सुनिये भव फंदनि में कब लौं लटकै,
घन आँनंद स्याम सुजान हरौ जिय चातक के हिय की खटकै!

जा हित मात को नाम जसोदा सुवंश को चंद कला कुलधारी,
सोभा समूह भई घन आँनँद मूरति रंग अनंग जिवारी,
जान महा सहजै रिझवार उदार विलास में रासविहारी,
मेरो मनोरथ हू वहिए तुम ही मो मनोरथ पूरन कारी!

तीछन ईछन बान बषान सौं पैनी दसाहि लौं सान चढ़ावत,
प्राननि प्यास भरे अति पानिप भाइल घाइल चौंप चढ़ावत,
यौं घन आँनँद छावत भावत जान सजीवन ओर ते आवत,
लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत!

बिनती कर जोरि के बात कहौं जौ सुनौ मन कान दै हेत सों जू,
कविता घन आँनँद की न सुनौ पहिचान नहीं उहि षेत सों जू,
जु पढ़े बिन क्यों हू रह्यौ न परै तौ पढ़ौ चित मैं करि चेत सों जू,
रस स्वादहि पाय विषाद बहाय रहौ रमि कै इहि नेत सों जू!

विषाद को बहा कर दशम दशा के रस को देने वाली

कविता घनानंद की है। घनानन्द को लक्ष्य कर चन्द्रकुँवर (१९१९-१९४७ ई०) ने एक बार लिखा था।

बस कर भी व्रज में प्रिय बासना कब गई ?
यह पुकार बार-बार माँग है क्या रही ?
वर्षा के मेघ देख गोवर्द्धन छूते,
तापस क्यों वाणी में तरलता यह नई ?
हृदय यह पुकार उठा, कौन वह अप्सरा ?
नयनों में कौन वह पिघली पवि निष्ठुरा ?
कवि ! क्या यह मेघ भी विनय कान करेगा ?
सचमुच उस आँगन में आँसू बरसेगा ?
खिड़की से निकल फैल सावन संध्या में ,
विरही का दुःख वह सचमुच क्या रोवेगा ?
विसासी सुजान उसे सुनेगी अकेली।
आनन के कुसुम भार से झुका हथेली ?
व्रज में गूँजा बसन्त, झूमी बल्लरियाँ।
व्रज में कूका बसन्त, डोली मंजरियाँ।
व्रज है रमता कहीं, तुम हो डूबे कहीं।
बजते डफ हैं वहाँ, खिलते पर तुम नहीं।
मोहन मुरली में क्या उतना रस है ?
जितना प्रेयसि सुजान के प्रिय सुर में है ?
कोकिल की वाणी में क्या वह आसव है,
जितना कवि को सुजान के प्रिय सुर में है ?
यमुना के नील नयन क्या उतने मोहन ?
जितने प्रेयसि सुजान के मादक लोचन ?
तुम क्यों तज कर सुजान मेरे कवि आये ?
वृन्दावन यहाँ कहाँ विरह व्यथा लाए !

मिथ्या-मिथ्या विराग, न छिपा पाओगे !
अपनी विपुल वासना, न छिपा पाओगे !
गेरू के रँगे वस्त्र सभी ये झूठे हैं,
इन में अपनी सुजान न छिपा पाओगे !
मूँद नयन बैठे, राधा कब घूम रही ?
बैठी सुजान हाय ! क्या नहीं झूम रही ?
आँखों से उमड़-उमड़ आँसू की धारा,
मोहन वियोग या सुजान को बता रही ?

घनानंद और चन्द्र कुँवर प्रेम के वट बीज को एकान्त में पालने वाले कवि रहे हैं। प्रेम का दिगन्त में फैल जाने वाला कुररी क्रंदन इन में है। इन का अनुराग करुणोन्मुखी है। वह उस असमर्थ का क्षोभ है जिस के अधिकार में प्रेम तो क्या अपना शरीर भी नहीं; वह उस मानव हृदय की व्यथा है जिसे प्राण सौन्दर्य की सत्यता की कभी न विसराई जाने वाली एक झलक मिल जाती है; वह उस हृदय की विकलता है जो कि प्रेम रवि की दीप्त प्रभा को सम्पूर्ण रूप में न पा कर कमल की भाँति मुरझाने लगता है। वह उस विरही का कुररी मुखी अनुराग है, जिस का रोम-रोम प्रिय की प्रतीक्षा में सजग रहता है और प्रिय के आते ही जिस के स्वर, आँखों की तरलता में काँपने लगते हैं, तन में पुलक प्रस्वेद बन बहते हैं। घनानंद ने राधा कृष्ण प्रेम की माधुर्य भक्ति से भावनाओं का परिष्कार किया। चन्द्र कुँवर के जीवन अनुभवों को सत-साहित्य, शोभन प्रकृति और माँ, बहिन, प्रेयसी तथा दुख ने ज्योत्स्ना स्नात तरलता, प्रदान की है। रस दशा को पहुँचा हुआ इन दो कवियों का प्रेम, हृदय के संयम से परिपूर्ण वीणापाणि की कृपा से उज्ज्वल और जीवन की पवित्रता से दिव्य है।

हिन्दी काव्य-साहित्य में यौवन प्रेम के सुन्दर तथा सुरीले गीत गाने में विद्यापति अद्वितीय हैं, बाल स्वभाव की विशेषताओं और अपत्य प्रेम की बारीकियों के अमर गायक सूरदास हैं, नीलोत्पल श्याम यौवन के उपासी नंददास हैं, जीवन के बहुमुखी आदर्शों के गम्भीर पारखी तुलसी दास हैं, आध्यात्म और जीवन साम्य के एक एक निष्ठ तेजोमय तपस्वी कबीर हैं, प्रेम प्रतीक पद्मावती के विरह की कोयल जायसी हैं, श्याम सुन्दर योगिराज कृष्ण की नाद मुरली योगिनी मीरा हैं, शान्त ज्योति की एक रस तरंग मालाओं में झूम झूम कर नाचने वाले मोर रसखान हैं। किन्तु सौन्दर्य प्रेम और विरहोन्मुखी आनन्दी निर्झरों की सरस्वती धारा को मानव पृथ्वी पर बहाने वाले केवल दो ही कवि हिन्दी साहित्य में पाये हैं, सतरहवीं ईसवी शताब्दी में घनानंद और बीसवीं शताब्दी में चन्द्रकुँवर।

२१—मलिक मुहम्मद जायसी (१४९४ ई-१५९१ ई)

ठेठ बोल चाल की भाषा में काव्य लिखने पर भी कोई कवि आदर पा सका है तो वह है जायसी। अपभ्रंश से चली आती हुई दोहा—चौपाई शैली को अवधी भाषा में अपना कर जायसी ने बहुत अच्छा काम किया, आगे चल कर इसी शैली में तुलसीदास ने अपना रामचरित मानस (१५-७४ ई०) में लिखा। रामचरित-मानस में प्रतीक-रूपक कथा को प्रबन्ध काव्य में लिखने की शैली भी जायसी के पद्मावत

की परंपरा है। पद्मावत की रचना जायसी ने शेरशाह के समय (१३८४-१५४५ ई) में सन् १५४० ई० में रामचरित मानस से चौतीस वर्ष पहिले की।

आध्यात्मिक विचारों का संवाहक जायसी ने रतनसेन पद्मावती की अर्द्ध ऐतिहासिक कथा को बनाया। अर्द्ध-ऐतिहासिक कथाएँ मन माने ढंग से नही बदली जा सकती हैं। आध्यात्मिक विचारों का एक निश्चित रूप होता है। अर्द्ध-ऐतिहासिक कहानी उस के अनुरूप हो ही यह आवश्यक नहीं है। और न यह ही अनिवार्य है कि आध्यात्मिक विचार ऐसी कहानी का अनुसरण करें, जहाँ दोनों एक दूसरे के मेल में हों वहाँ तो ठीक से वे निभ जाते है जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ वे एक दूसरे से विदगते फिरते हैं। पद्मावत में आध्यात्म-वाद और कहानी एक दूसरे के मेल में नहीं है वे, "प्रतिकूल प्रकृति के उन दो पड़ोसियों की भाँति हैं जो एक दूसरे को लाञ्छित कर हाथापाई करने में ही अपना समय नष्ट कर देते हैं। कहानी, आध्यात्मवाद की हँसी उडा रही है और आध्यात्म-वाद कहानी को विरूप बना रहा है।"

आध्यात्मिक विचारों की उच्चता अथवा प्रबंध रूप में कथा और विचारों को निभा सकने की निपुणता के कारण पद्मावत का प्रचार इतना अधिक नहीं हुआ जितना सरस प्रेम कहानी में तन्मय रूप वर्णन (पद्मावती) और तीव्रानुभूति के विरह वर्णन (नागवती) को बोलचाल की सरस भाषा और दोहा चौपाई की प्रवाहमय शैली में लाने के कारण। 'मानस' भी दोहा चौपाई और अवधी भाषा में है पर अवधी की वह मिठास जो पद्मावत में पाई जाती है तुलसी के मानस को बाँट में नहीं पड़ी। मानस की अवधी बूढ़ी संस्कृत के भार के नीचे दबी

सिसकती है। संस्कृत की चासनी में नहीं वरन् भाषा के खारे समुद्र में वह डुबोई गई है। भाषा के समुद्र से मिठास भरे सजल शब्दों के मेघ उठाने वाले सूर्य्य तुलसी नहीं है, सूर और जायसी हैं।

जायसी के पद्मावत से पता चलता है कि जायसी सारे भारत वर्ष से और उस की प्रकृति से परिचित थे। हिमालय प्रान्त में भी वे घूमे थे। योगियों में से बालानाथ, मच्छेन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ का उल्लेख उन्हों ने किया है। तरह-तरह के पक्षियों और उन के कूजन करते स्वरों तथा प्रकृति के दृश्यों के रंगों से पद्मावत भरा पड़ा है। मानस में इस का अभाव है। जहाँ कहीं इन का वर्णन हुआ है वह परंपरा निभाने भर के लिए किया गया है तुलसी को उन की सुन्दरता, सरसता, सियाराम मय सब जग जानी के रहते भी नहीं आकर्षित करती। उन की दृष्टि प्रेम की दृष्टि थी ही नहीं। वे ज्ञानी भक्त थे, भक्त भी ऐसे जिन के हृदय में भक्ति की मणि को स्थान था 'उमगती हुई चित्रकूट जाने वाली मंदाकिनी' को नहीं। जायसी प्रेम-सौन्दर्य पूर्ण हृदय में आध्यात्म भी रस की धारा की ओढ़नी ओढ़ कर ही सामने आता है।

जायसी सांसारिक भावनाओं की भूमि से होते हुए ही आध्यात्मिकता के सौन्दर्य प्रेम शृंगों पर पहुंचे है जहाँ कि हंसों के युक्त मानसरोवर में विकसित कमल निरंतर दिखलाई देते हैं, उन का कहना है—"परगट गुपुत सो सरवबि आपी। धरमी चीन्ह न चीन्है पापी" और प्रेम के मार्ग को सब जगह सराहना होती है—

तुरकी, अरबी, हिन्दुई, भाषा जेती आहिं,
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि।

आधुनिक युग चन्द्रकुँवर जिस समय लिखते हैं—

सीमित है मानव वाणी अक्षर बंधन में
सभी समझते प्रेम के बचन पर त्रिभुवन में.

उस समय, वे जायसी और कबीर के निकट वे आ जाते हैं।

कबीर के प्रेम वियोगी ना जिये- जिये तो बाऊर होय,
को उन्हों ने अपनी कविताओं में विकसित भी किया है।

विरह कोयल जायसी से चन्द्रकुँवर पर्याप्त मात्रा में मेल खाते हैं, अपने एक गीत में उन्होंने लिखा हैं—

किस अतीत विरह व्यथा का ? किस विपिन में
प्राण के कवि का लिखा ?
गीत व्याकुल यह हृदय को कर रहा है !
याद है मुझ को नहीं जिस रूप की
हृदय उस की वन्दना है कर रहा !

जायसी की नागमती और चन्द्रकुँवर की नंदिनी तथा पयस्विनी में विरहावस्था की तीव्रता के स्वर विद्यमान हैं जायसी ने अपने विषय में लिखा है—

जेहि के बोल विरह कै घाया, कहँ तेहि भूख, कहाँ तेहि माया !
मुहम्मद कवि जौ विरह भा, ना तनु रकत न माँसु,
जेइ मुख देखा तेई हँसा, सुनि तेहि आयउ आँसु,

चन्द्रकुँवर भी कहते हैं—

१ 'आँखों में वह रूप है, प्राणों में वह नाम,
श्रवणों में वह गुण कथा, मुझे कहाँ विश्राम !

२ आँखों में आँसू छाती में एक,सी जलन,
कहते हैं क्या प्रेम इसी को हे मेरे मन ?

३ जीवन का है अन्त प्रेम का अन्त नहीं
कल्प वृक्ष के लिए शिशिर हेमन्त नहीं।

पद्मावती में नागमती के स्वरों में जायसी की आत्मा अपने ही बारे में कह रही है।

चकई निसि बिछुरै, दिन मिला, हौ दिन राति बिरह कोकिला!

जायसी की यह विरहिन आत्मा इस बात को भली भाँति जानती है कि 'तपनि मृग सिरा जे सहैं ते अद्रा पलुहंत', कबीर ने वसंत को पतझड़ का याचक बना कर यह भाव व्यक्त किया है। चन्द्रकुँवर ने जहाँ एक ओर यह कहा है—

सच है घन तम में खो जाते स्रोत सुनहले दिन के
पर प्राची से झरने वाली आशा का तो अंत नहीं,

वहाँ दूसरी ओर अपनी 'कंकड़-पत्थर' रचना की 'नहि कल्याण कृत कश्चित' कविता (पृष्ठ ३३) में—वैदिक भाव के साथ कबीर और तुलसी जायसी के भाव का भी काम दे दिया है—

जिन पर मेघों के नयन गिरे वे सब के सब हो गये हरे,
पतझड़ का सुन करुण रुदन, जिस ने उतार दिये वसन,
उस पर निकले किशोर किशलय, कलियाँ निकलीं निकला यौवन,
सब के सुख से जो कली हँसी, उस की साँसों में सुरभि बसी,
सह स्वयं ज्येष्ठ की तीव्र तपन, जिस ने अपने छायाश्रित जन—
के लिए बनाई सुखद मही, लख उसे भरे नभ के लोचन,
लख जिन्हें गगन के नयन भरे, वे सब के सब हो गये हरे!

विरह और काल में, जीवन और मृत्यु में प्रेमियों के लिये कोई अंतर नहीं। न तो जायसी ने वह अंतर रक्खा है न चन्द्र-कुँवर ने उसे स्वीकारा है। रूप की आसक्ति ऐसे व्यक्तियों में

सामान्य मानसिक दशा में अन्य व्यक्तियों से अधिक तीव्र होती है। उन की यह भावना भग्न दृष्टि सौंदर्य का निर्माण करती है, प्रेम श्रृंगार के उन्मुक्त गीत गाती है, नागमती के स्वरों में जायसी कह रहे हैं—

कँवल जो विगसा मानसर, विनु जल गयऊ सुखाइ,
अबहुं बेलि फिरि पलुहै, जो पिउ सींचे आइ।
अबहुँ मया दिस्टि करि, नाह निठुर! घर आउ,
मंदिर उजार होत है, नव कै आइ बसाउ।

और चन्द्रकुँवर की आत्मा का क्रंदन हैं—
पहिचानों अंतर, अंतरतम, सुनो मर्म की वाणी प्रियतम!
सफल करो युग-युग का क्रंदन मुझे अंक में भरो प्राणधन।

रतनसेन से वियुक्त नागमती विलखती है—
सारस जोरी कौन हरि, मारि वियाधा लीन्ह?
झुरि झुरि पींजर हौं भई, विरह काल मोहिं दीन्ह!
रकत ढुरा माँसू गिरा, हाड़ भयउ सब संख।
धनि सारस होई ररि मुई, पिउ समेटहिं पंख।
हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भई सब ताँति,
रोवँ रोवँ ते धुनि उठै, कहौं विथा केहि भाँति।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला, हरियरि भूमि, कुसुँभी चोला।
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा, विरह झुलाइ देइ झकझोरा।
जग जल बूड़ जहाँ लगि ताकी, मोरि नाव खेवक बिनु थाकी।
परवत समुद्र अगम बिच, बीहड़ घन बन ढाँख।
किमि कै भेटौं कंत तुम्ह, ना मोहि पाँव न पाँख।
सखि झूमत गावैं अँग मोरी, हौं झुराँव बिछुरी मोरी जोरी।
घर-घर चीर रचे सब काहू, मोर रूप रँग लेइगा नाहू।
पिउ सौं कहउ संदेड़ा, हे भौंरा! हे काग।

सो धनि विरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह लाग।
करहिं वनसपति हिये हुलासू, मो कहँ भा जग दून उदासू।
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन! उड़ाव!
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरे जहँ पाँव।
मो कहँ फूल भए सब काँटे, दिस्टि परत जस लागहिं चाँटे।
नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेंवत वसंत,
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत?
परवत समुद्र मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं यह आगि।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिव लागि।
और चन्द्रकुँवर की नंदिनी के स्वर हैं—
जन्म जन्म से खोज रहा है उस को जीवन,
जिसे लुभाने को आया है मुझ में यौवन।
मेरी वाँह सरिताओं सी आकुल हो कर,
दिशा दिशा में खोज रही हैं वह प्रिय सागर,
जिसे हृदय पर धर मिलती शान्ति चिरन्तन,
जिस की छवि में खो जाता युग-युग को जीवन।

नंदिनी के कवि और नागमती—पद्मावती के कवि में पर्याप्त साम्य है।

मानस का रूपक, तुलसी ने आरम्भ और अन्त में स्पष्ट किया है। जायसी ने भी यही किया है। अब तक छपे पद्मावत के अन्त में कवि ने कहा है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा, कहा कि हम किछु और न सूझा,
चौदह भुवन जो तर उपराहीं, ते सब मानुष के घट माहीं।
तन चितउर, मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल, बुधि पद्मिनि चीन्हा,
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा, विनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा, बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।

राघव दूत सोई सैतानू । माया अलाउदीं सुलतानू ।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु, बूझि लेहु जौ बूझे पारहु ।

सच्चे गुरु के मुख से परमात्मा के रूप सौन्दर्य की कथा सुन कर माया को छोड़ कर आध्यात्म पथ पर जीव जब चला जाता है नागों की भाँति ही पास में बाँधने तथा डसने वाली नागमती (माया) रोने कलपने तब लगती है। जब तक सांसारिक माया ममता हम में है तब तक नागमती की मर्मान्तक वेदना ही हमें भावेगी जिस दिन परिष्कार हो जावेगा हृदय का जल जम कर भक्ति की मणि में परिणत हो जावेगा उस दिन पद्मिनी के दर्शन होंगे।

पद्मावत के अलावा, अखरावट और आखिरी कलाम भी जायसी की रचनाएँ है जो छप चुकी है। आखिरी कलाम की रचना, बाबर (जन्म १४८३ ई० की मृत्यु २६ दिसम्बर १५३० ई०) के समय हुई। इस रचना में जायसी ने उस भूकंप का वर्णन किया है जो ६ जुलाई १५०५ ई० को भारत में हुआ था। इसी में जायसी ने अपना जन्म का हिजरी सन् दिया है—

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी,
आवत उधत चार विधि ठाना, भा भूकंप जगत अकुलाना।

२२— सेनी-रैदास-कबीर

सेनी, रैदास, कबीर, धना, पीपा आदि ऐसे सम-सामयिक संत हैं जिन्हों ने गुरु रामानंद (रामदत्त अथवा रतनगिरि सन्यासी—१२९९ ई०—१४४८ ई०) की शिक्षाओं से लाभ उठाया। सेनी, बाँधव गढ़ के बघेला राजा वीर सिंह के नाई थे। रैदास और कबीर का लोहा उन्हों ने माना। चित्तौड़ की झाली रानी, रैदास की शिष्या काशी में हुई उस अवसर पर ब्राह्मणों ने उत्पात मचाया तो रैदास ने सेनी को ही पहली बार सलाह लेने कबीर के पास भेजा, दूसरी बार सेनी सहित स्वयं गये। इस समय कबीर से जो संवाद हुआ वह ही सेनी ने दिया है। इस संवाद के बाद रैदास कबीर के चेले बन गये। भविष्योत्तर पुराण में कहा गया है मानदास तथा पिंगला के पुत्र रैदास ने कबीर से पराजित हो कर उन का शिष्यत्व ग्रहण किया—

> चर्मकार गृहे जातो द्वितीयः पिंगला पतिः।
> मानदासस्य तनयो रैदास इति वश्रुतः।
> पुरी काशीं समागम्य कबीरं राम तत्परं,
> जित्वामत विवादेन शंकराचार्यमागतः।
> पराजिस्सरैदासो नत्वा तं द्विज सतमम्
> रामानंदमपागम्य तस्य शिष्यत्वमागतः।

जदादपुर के भक्त बख्शीदास ने अपनी रैदास रमैनी में रैदास को राहु और कर्मा का पुत्र बताया है। हरिनंद और चतुर कौर के पुत्र राहु हुए। राहु की तीन पत्नियों करमा,

कलदेवी, जैनदेवी हुई। करमा के गर्भ से रैदास पैदा हुए। और ब्राह्मणों के पूछने पर रैदास से कहलवाया है—

काशीपुरी ढिंग नगर हमारा, चँवर वंश अरु शूद्र कुमारा,
राहू भक्त हमारे ताता, कर्मा जननी गर्भ की माता,
माडुर नगर लीन औतारा रविदास शुभ नाम हमारा,
पिपलग गोत्र अरु सूर्य उपासी, निशि दिन रटत अलख अविनासी।

'चंवर वंश पुराण' के हिन्दी रूपान्तर में रैदास का नाम यशवन्त बताया गया है और रघु उन के पिता कहे गये हैं।

गुजराती भाषा में भी रैदास के पद मिलते हैं कुछ ऐसे भी गुजराती पद हैं जिन से पता चलता है गुरु माणदास से भी रैदास ने शिक्षा ग्रहण की। गुरुग्रंथ में रैदास के भी पद संकलित हैं एक पद में रैदास ने कहा है—'नागर जनां मेरी जाति विखिआत चमारं, रिदै राम गोविंद गुन सारं' और दूसरे पद में भी अपने को मरे ढोरों को ढोने वाले का पुत्र तथा कासी के आसपास का रहने वाला बताया है—

हरि जपत तेऊ जनां पद कवलासपति ता सम तुलि
नहिं आन कोऊ
एक ही एक अनेक होई विसथरिओ आन रे आन सूपूरि सोऊ १
जाकै भागवत लेखीऐ अवरु नहीं पेखीऐ नाम की जाति
आछोप छीपा,
विआस महि लेखीऐ सनक महि पेखीऐ नाम की नामना
सपत दीपा, २
जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि मानीअहि
सेख सहीद पीरा,
जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहू रे लोक
परसिध कबीरा ३

जाके कुटुम्ब के ढेद सभ ढोर ढोवंत फिरहिं अजहु
बंनारसी आसपासा,
आचार सहित विप्र करहि डंडउति तिनि तनै रविदास
दासान दासा, ४

कबीर संबंधी जो पंक्तियाँ इस पद में हैं, दादू (१५५४-१६०३ ई०) के शिष्य रज्जबदास (१५६७ ई०-१६८६ ई०) कृत सर्वांगी में पीपा के नाम से वे, मिलती हैं—

जाके ईद बकरीद, नित गऊरे बध करै, मानिए सेख सहीद पीरा,
बापि वैसी करी, पूत ऐसी धरी नाँव नव खंड परसिध कबीरा।

रज्जबदास ने कबीर के लिए 'जुलाहा अभे उत्पन्नौ, साध कबीर महामुनी' लिखा है और रैदास के लिए—'चमारी अभे उत्पन्नो रैदासो महामुनी।'

रामानंद की कई शिष्य परंपराएँ हैं। एक परंपरा में रामानंद अनंतानंद—कृष्णदास पयहारी, अग्रदास—नारायणदास (नाभादास) विनोदी स्वामी, अनंतदास हैं। अनंतदास ने कबीर, रैदास, पीपा, मीरा, सेऊ-सम्मन आदि संतों की परचियाँ सन १५८६ ई के आस पास लिखीं। अनंतदास की परचियों में कबीर को सुषदेव का और रैदास को नारद का अवतार कहा गया है 'जाति जुलाहो नाम कबीरू, मानू सुषदेव को आहि सरीरू' 'और एक रैदास चमारा, जानूं नारद लीयो अवतारा।'

बख्शीदास ने कबीर की पुत्री कमाली और मीरा को रैदास की शिष्या लिखा है। रैदास की प्रशंसा में व्यास ने गाया है—

व्यास बड़ाई छोड़ि के, हरि चरननि चित्त जोरि,
एक भक्त रैदास पै बारौं ब्राह्मन कोरि।

पूर्वी पंजाब में जालंधर और कर्तार पुर आदि स्थानों में रैदास पंथी लोग मिलते हैं ये लोग रैदास का जन्म माघ-पूर्णिमा १४७१ विक्रमी (मार्च १४१५ ई०) को काशी में और निधन चैत बड़ी चौदस संवत १५९७ वि० (मार्च १५४०) को चित्तौड़ में मानते हैं। इस प्रकार इन लोगों के हिसाब से रैदास की जीवन अवधि १२६ वर्ष १ माह १४ दिन की ठहरती है।

सेनो, राम भक्त थे। उन का राग गौड़ी में एक पद है—

"दास नहिं छाड़िये हो, जौ जन अपराधी होय,
अमृत अनोप सरोदिका, संतनि भीतरि वास,
एक बूँद प्रापति नहीं, जन क्यों पावे विसवास.
हूं तुम कारनि बीनऊं, निसि दिन षरो उदास।
उदिक तीर पसु बाँधियो, बिन षस्महि मरै पियास,
अवर नहीं अवलम्बना, जन सेनि कहै समझाय,
तुम ठाकुर मैं सेवका, कृपा करौ राम राय।

इस पद की भाषा में तथा संवाद की भाषा में कुछ अंतर है यह इसलिए कि संवाद का पाठ मैं ने फौवर्स गुजराती सभा की प्रति से लिया है।

रैदास-कबीर-संवाद

(रहीदास–र०, कबीर–क०, सेनी–से०, दुर्गा–दु०, शंकर शं०, महादेव–म०, शिव–शि०, ब्रह्म–ब्र०, गोपाल–गो०)

र०-१ नाहीं नाहीं हेत माधो मोरा, कैसे दरसन पाऊँ तोरा!

२ कुमत तणा दल बादल फाटा, सुमत तणा प्रकासा।
झूटें ज्ञान ध्यान धरी देखे, सत भाषे रहीदासा।

क०-३ ब्रह्म ज्ञान बीन, ब्रह्म तत्त बीन, हृदा सुध न होई।
एक ही ब्रह्म सकल घट व्यापक, और न दूजा कोई।

र०-४ ऐक-ऐक तुम कहा कथत हो, दूजी प्रगत्य काँहाँ जाई ?
जो प्रगत्य में त्रीगुण रूप हें, सो संतन सदा बताई।

क०-५ पहौप तहाँ बास हें, पंक जाँहाँ ताँहाँ पानी।
उतपत्य परलें कोन करत हें, दुजी प्रगत्य कहाँ समानी ?

र०-६ प्रगत्य समानी परम पुरुष में, सो बृंदावन आया।
गोपन के संग, ग्वालन के संग, चूकटी दे-दे नचाया।

क०-७ नां ओ नांचें, ना ओ गावें, ना करताल बजावै।
यों अवन्यासी बीसंभर कहिये, १ यो कीत गरमे आवै।

र०-८ जौ लीला अवतार न होता, तो जीव कैसे नीस्तरते।
अंध-धुंध की कछू खबर नां परती, जीव सकल नरकें परते !

क०-९ कहाँ नरक हें, कहाँ सरग हें, कहौ धु कोने देखा !
चलते हंस पीयाना कीना, जाता कीनहु न पेखा।

र०-१० को पच मरें गुडी के कुटे, कौ बही मरें पयारा।
बडी लुट पाई रत्न खजीना, राम-कष्ण अवतारा।

क-११ को न अवतार, को न अवतरिया, को न अवतार बताआ,
पुरण ब्रह्म सकल तें न्यारा, नीरगुण वेदु गाया।

र-१२ नीरगुण सरगुण मेरा ठाकोर, जा के रूप न रेखा।
सो में देखा नंद गोकुल में,*ब्रह्म गोप के वेशा।*

१—यो की नगर में आवें' भी पाठ मिलता है।

* 'गोप वेषस्य विष्णु'—२ मेघदूत कहते हैं।

क-१३ ब्रह्म न गोपी, ब्रह्म न गोपा, कहो ब्रह्म कीत आया ।
पुरण ब्रह्म सकल ते न्यारा, को-को संतो पाया ।

र-१४ सो हम देखा कदम की छंहीया, कमल नाल कर लोया ।
पीत वसन बेजंती माला, मोर-मुकुट सीर दीया ।

क-१५ अष्ट कमल-दल हरदा भीतर, जो मनु वापी तीरैं आई ।
त्रकुटी संजम मन द्रीढ़ करि राषैं, तो आवा गमन नसाई ।

र-१६ आवागमन होनैं दौ स्वामी, गावण द्यौ गोपाला ।
जा के रूप ब्रीज बनिता मोहीं, मोहन नंद के लाला ।

क-१७ को न नंद को न जसोदा, कहो पुत्र कीन जाया ।
यो अविनासी बीसंभर कहियें, यो कीत गरभे आया ?

र-१८ चहु दीस नंद, चहु दिस लाला, चहु दस वेदु गाया ।
जांहां जाजां पाप परगटें, तहां-तहां उठी छाया ।

क-१६ पाप पुन्य नाहीं हैं वा के, नाहीं वा के वेद और वानी ।
रूप रेख कछू नहिं वा के, असा सकल बीनांनी ।

र-२० स्वामी नारद सुखदेव आद्य भक्त हैं तीन आ भक्त बताई ।
संतन की सेवा संगत तें, नंद सोवन सुखदाई ।

क-२१ माटी का घट आज बनाया, नादें बुद समाना ।
घट बनसें काहा नांम धरौगे, पसुआं भरम भुलाना ।

र-२२ माये तुरकडी बाप जुलाहा, पुत भया ब्रह्म ज्ञानी ।
बेद कतेब की षबर न जानें, सा सूत्रम की आंनी ।

क-२३ वेद कतेव दोउ हम देखे, तीन की जूठी आसा ।
सकल जीव नरक पड़ेगे, एक बीना बीसवासा ।

र-२४ भूले स्वामी ब्रह्म ज्ञानी, हरि चरणा नहिं पाया ।
अंजन छाड़ नीरंजन छाया, मीथ्या जन्म गमाया ।

क-२५ ता तें तुम साध कहावो, काल बसें झख झोलें।
पूरण ज्ञान-ध्यान वीनां,त्रीगुण नदी में बोलें।

र-२६ कोन ज्ञान है, कोन ध्यान हैं कोन वेद हे वानी ?
कहा ले तुम अगें झूझो, अगम की कैसें जानी ?

क-२७ मन ज्ञान हें, मन ध्यान हें, मन बेद हे बानी।
काया ले हम आगे झूझे, अगम की अैसें जानी।

दु-२८ संग बाहुनी दुरगा आई, बोलत मधुरे वानी।
सत्त भक्त राहीदास करत हें, कबिरे भक्त न जांनी।

क-२९ आगम चउदस गला कटावें, घर-घर पाती डोलें।
जायो-जाय जंगपति की चंडी, जूठी स्राक्त कीत बोलें।

शं-३० व्रषब चढ़ी सीव शंकर आये, बोले मधुरी बानी।
सत भक्त राहीदास करत हें, कबीरें भक्त न जांनी।

क-३१ तुम तो भूत प्रेत के नाथा, तुम हु भक्त काहाँ पाई।
जगत गुरू सीव शंकर कहीए, जूठी सापु भराई।

ब्र-३२ हंस चढ़ी ब्रह्मा आए, सापी वेद बोलाई।
सत्त भक्त राईदास करत हैं, कबीरे भक्त न पाई।

क-३३ जूठे सापी, जूठे ब्रह्मा, जूठे जुग भरमाया।
जाओ-जाओ आगें ते ब्रह्मा, तमो ब्रह्म कालें पाया।

दु-म-३४ दहु दसा तें दुरगा कोपी, माहादेव गरमांने।
मेरे मारे नास जायोगे, मो कु सब को जांने।

क-३५ तेरा मारा कोई न मर हें, तु कीत गहेली होई।
नाथे नगर में मेरा बासा, ता घर मार न होई।

शि० गो० ३६ व्रषव चढ़ि सीव तांहा गये, जहां बैठे गुरुडगोपाला,
हम तो भूत प्रेत के थापे, जुलाहा कथें अपारा।

गो० शि०-३७ पेंडा में तों ही सत गुरु मलीआ, अजहु नां चेतें अंधा,
वीषें वीकार छाड़ दें वहोरे, छाड़ सकल दुष धंधा।

गो क० र०-३८ चलें गोपाल हेतकारी, जाहां वेंठे कबीर-राहीदासा,
वईकुंठ नाथ कु कबीर ना मांनो, करौं कौन की आसा।

क० ३९ कहें कबीर सुनो नारायण, तुम हो अलष नीरंजन राई।
तुमारी परम जोत सु मन मांना, सब घट रहे समाई,

गो० ४० गोपाल कहेंत हैं सुनों कबीर जी, तुमारा कोन ज्ञानां,
रूप वहूणी जोत न दरसें, धरो कोन का ध्यानां?

क० ४१ कबीर कहेंत हें सुनो नारायण, हमारा नीरमल ज्ञानां,
वेद नीरंतर वाणीं दरसें, तहाँ मनुवा ठहरानां,

र० ४२ तुम कोंन कौं गावो, कोन कौं धावौ,
तुम कोन की करत हो सेवा,
कोन पुरष सु ध्यांन तुमारा, कोन तुमारे देवा?

क० ४३ मन कु गावें, मन कु धावें, मन की करत हें सेवा,
अलष पुरुष सु धान हमारा, तुम हमारे देवा।

र० ४४ तुम गायो सो हम ही गावें, तुमारा ज्ञान बीचारी,
कहें रहीदास सुणो कबीर जी, आयो सरण तुमारी।

क० ४५ जो तुम आयो तो कर्म छाड़ द्यो,
भरम छाड़ द्यौ चतुराई छा ड़्यौ भाई,
आतमराम करो बीसरामा-कहें कबीर समझाई।

र० ४६ सत कबीर तुम सतगुरु स्वामी, जिन आ अगम बताया,
तां हां का था ता हां ले महेला, पार ब्रह्म पद पाया।

क० ४७ गुर भुलें तो सीष समझावें, सीष भुलें तो गुर तारे,
कहें कबीर सुनो गुर-भाई, भजी लें रं रंकारे।

सो० गो० ४८ धन कवीर, धन राइदासा, गावें सेनी सोई,
गरुड चढ़ी गोपाल कहेंत हैं, सत भक्त मेरे दोई।

क०—४६ तब उठी कवीर वंदन कीनो, सुनो गोपाल ववेकी,
साच जूठ तुम एक करत हो, सार-वस्त कीनी देखी।

गो०—५० ब्रह्म सदेही ब्रह्म सरूपा, ब्रह्म बोलें ए वानी,
डाल पात राहीदास ग्रंहेंते, मूल कवीरें जानी।

इस सम्वाद से पता चलता है रैदास, पहिले तो सगुण भक्त थे बाद को कबीर से प्रभावित हुए। परमात्मा के राम तथ कृष्ण अवतार में रैदास क विश्वास था। ये लीलावतार, पाप मेटने तथा जन निस्तार के लिए होते हैं। वृन्दावन में गोप वेश में विष्णु १ ही थे जिन्हों ने गोपियों तथा गोपों से लीलाएँ कीं। ब्रह्म के अलावा त्रिगुणात्मिका (सत-रज-तम मयी) प्रकृति को रैदास मानते थे। प्रलय के समय प्रकृति, ब्रह्म में लीन हो जाती है, उत्पत्ति के समय प्रकट हो जाती है। बाहरी जगत-डाल—पात-को उन्हों ने अपनाया। परमात्मा के दर्शन के लिए वे विकल रहे।

कबीर अद्वैती थे। केवल अद्वैत में उन का दृढ़ विश्वास था। ब्रह्म, रूप-रेखा-गुण से परे है, वह अजन्मा है, उत्पत्ति-प्रलय-प्रकृति सब उसी के व्यक्त रूप हैं, वह अव्यक्त अनादि मूल है। अश्वत्थ वृक्ष की मूल कबीर ने पकड़ी, हृदय कमल में आत्मदर्शन किए जा सकते हैं। मनन-चिन्तन, संत-सेवा और ब्रह्मज्ञान के बिना पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। हृदय के निर्मल हो जाने से ही आत्म ज्योति के दर्शन होते हैं इस के लिए चतुराई, कर्म-भ्रम से काम नहीं चल सकता। ररंकार भजने से निस्तार होता है।

१—गोप वेष य विष्णु—मेघदूत

इस के अलावा यह संवाद यह भी बतला रहा है कि कबीर और रैदास गुरु भाई थे। बाद को रैदास ने कबीर के निर्गुण निरंजन ज्ञान को अपनाया। कबीर की माँ तुरकिन थी, बाप जुलाहा था। शास्त्रीय ज्ञान को कबीर ने महत्व नहीं दिया। अनुभूति तथा दृढ़ सत्य ब्रह्म निष्ठा के योगी संत वे थे। उन्हों ने नाथ पंथ को अपनाया था। उस नाथ पंथ को जो कि काल के प्रभाव से बचने और आवागमन से छुटकारा पाने की युक्ति बतलाता है।

२३—कबीर की वाणियाँ

बाण के समान प्रखर और चुभने वाली वाचा वाणी है। ज्ञान सूर्य की प्रखर बाण-किरणों, अज्ञान तिमिर को भेद कर हृदय को तिलमिला देने वाली भारती कबीर की है। इसलिए कबीर के बचनों को वाणियाँ कहा जाता है। कबीर भारतीय संत परंपरा के जागरूक कर्मयोगी थे। दार्शनिक दृष्टि से वे सूक्ष्म चिन्तन के अद्वैतवादी थे। व्यापक विश्वधर्म के सच्चे तपस्वी होने से जीवन-व्यवहार में प्रेम, सत्यता और गुणों की आवश्यकता उन्हों ने मानी है। भक्ति की दृष्टि से वे नारदीय परम्परा में आते हैं। नारदीय भक्ति का जन्म बदरीकाश्रम में हुआ था। जहाँ से द्रविड़ देश में वह पहुँची। संतो ने वहाँ उसे पाला-पोसा। बड़ी हो कर आचार्यों के द्वारा उस का दार्शनिक प्रसार सारे भारत में हुआ। शंकर, रामानुज, निंबार्क,

माधव, वल्लभ, राघवानंद, रामानंद, तुलसीदास, सूरदास सब ने उस के दर्शनों को अपनाया है। रामानुज (१०३७–११-३७ ई०) की शाखा में चौदहवीं शताब्दी में राघवानंद हुए। इन के शिष्य रामानंद (१२९९ ई०–१४४८ ई०) ने, जो कि ग़ाज़ीपुर के रहने वाले थे, रामभक्ति को प्रधानता दे कर निर्गुण, सगुण और योग का समवन्य किया। उन के शिष्यों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल उन से शिक्षा पाई और उन के सिद्धांतों का प्रसार किया। रामानंद के शिष्यों की यह विशेषता रही है कि उन्हों ने एक पथ को अपनाते हुए भी दूसरे से मुख नहीं मोड़ा। तुलसीदास जी ने सगुण भक्ति को अपनाया तो निर्गुण को भी महत्व दिया—

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिन कहै प्रकाश।
निर्गुण कहै जो सगुण बिन, सो गुरु तुलसीदास॥

और कबीर ने निर्गुण को प्रधानता देते हुए भी सगुण को स्थान दिया है।

सगुण की सेवा करो, निर्गुण का करि ज्ञान।
सगुण निर्गुण के परे, रहे हमारा ध्यान॥

तुलसी यदि प्राचीन आर्य संस्कृति के संरक्षक रहे हैं तो कबीर ने उस की क्षीण होती हुई शक्तियों की रक्षा कर उसे उबारा। सामाजिक परिस्थितियों को आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल बनाने में अपना जीवन लगाया। इसी से 'जाति पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि को होई' का उपयोग उन्हों ने अपने जीवन में किया और कहा—

जाति न पूछो संत की, पूछो उस का ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान॥

आज का युग संत की जाति भी पूछना चाहता है। संत की जाति वास्तविक रूप में परमात्मा की जाति है। कबीर इस जाति के थे। उन का नाम था कबीर, सत्य प्रेमी, विश्व बन्धु। इस शब्द के साथ अन्त में जुड़ा हुआ दास भी कम महत्व का नहीं है। मध्ययुग में प्रेम-भक्ति का प्रतीक शब्द वह रहा है। मध्यकाल के भक्तों में कबीर पहले योगी संत हैं, जिन का नाम दासान्त है। इस दृष्टि से भी भक्तों के अग्रणी कबीर हैं। सामाजिक दृष्टि से कबीर जुलाहे थे। मुसलमान परिवार में मगहर में उत्पन्न हुए थे जो कि मगहा से भिन्न है। बनारस गजेटियर, आजमगढ़ जिले के बेलहर को कबीर की जन्मभूमि बतलाता है। कुछ संस्कृत ग्रन्थों में वे धान्यपाल वैश्य के पुत्र बतलाये गये हैं। किन्तु उन के समसामयिक तथा गुरु भाई संतों ने कबीर को मुसलमान कुल का जुलाहा ही बतलाया है। पीपा, रैदास, सेना सब ने यही बात कही है। सेना ने कबीर की माँ को तुरकुड़ी और बाप को जुलाहा बताया है। कबीर के समय के विषय में बड़ा मतभेद है। रामानंद और कबीर के समकालीन तथा परिचित संत चेतनदास ने पैशाची प्राकृत, संस्कृत तथा हिन्दी मिश्रित देशवाड़ी प्राकृत में सन् १४६० ई० में प्रसंग पारिजात ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ में कबीर की जन्म तिथि दी गई है जो कि सन् १३६८ ई० निकलती है। परंपरा की मान्यता के अनुसार कबीर की मृत्यु १५१६ ई० में मानी जाती है विशेष रीति से १४४८ ई० में कबीर की मृत्यु हुई ठहरती है। १३१८ ई० से १५३७ ई० के बीच तक उन का समय फैला हुआ है। इतना निश्चित है, शताब्दी पंद्रहवीं में वे थे। रामानंद के शिष्य वे थे। उन का जीवन काशी में बीता और मृत्यु उन की अपनी जन्म भूमि मगहर में हुई। कबीर के नाम से जो वाणियाँ मिलती हैं, वे सब कबीर की ही हैं, यह

दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता। कबीर ने मौलिक रूप से वाणियाँ कहीं। कोई भी उन का संकलन कर सकता है। स्वयं उन के पढ़े-लिखे शिष्यों ने, अन्य श्रद्धालुओं ने उन की वाणियाँ लिखी होंगी, यस सम्भव है। हर एक ने अपनी अपनी रुचि के अनुकूल ही संकलन किया होगा। गुरु ग्रंथ साहब में भी कबीर की ढाई सौ के करीब वाणियाँ संग्रहीत हैं। हिन्दी में भी डाक्टर रामकुमार वर्मा ने उन्हें प्रकाशित किया है। किन्तु कबीर पंथी इन्हें प्रामाणिक नहीं मानते, यद्यपि इन में ऐसी साखियाँ भी हैं, जो कबीर पंथियों में मान्य कबीर बीजक में भी मिलती है।

व्यापारी अपने सौदे की कीमत, मात्रा, श्रेणी, दर आदि की सूची, माल के साथ भेजते हैं। उन से माल विषयक सब आवश्यक बातों का पता लगता है। इसलिये बीजक वह कहलाती है। प्रतिदिन के व्यवहार के इस शब्द-अर्थ संकेत को आध्यात्मिक जीवन के व्यापार के लिये चुन लिया गया है। इसलिये इस क्षेत्र में बीजक वह ग्रंथ है जो आध्यात्मिक क्षेत्र के व्यापार की संकेत सूची बतलाता है। बीजक के तरह तरह के संस्करण मिलते हैं और सभी कबीर पंथियों द्वारा प्रस्तुत किये गये है। भिन्न-भिन्न स्थानों की गद्दियों से आये हुए संस्करणों में अन्तर होना अस्वाभाविक नहीं। यह अन्तर सामग्री भर का नहीं, टीकाओं का भी है। रींवा नरेश विश्वनाथसिंह, पूरनदास और विचारदास की टीकाएँ अधिक प्रचलित हैं। बीजक संकलन के विषय में तरह तरह की किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। पहली किम्वदन्ती है कि कबीर ने जो वाणियाँ काशीराज से कहीं उन का संकलन काशीराज ने करवाया। वह आज कल बड़ा बीजक कहलाता है।

कबीर पंथियों में जिस बीजक को अधिक महत्व दिया जाता है उस का संकलन कबीर के शिष्य भागूदास ने किया। कहा जाता है कि कबीर के दो शिष्य जग्गूदास और भागूदास थे। कबीर का अन्तिम समय जब आया, तब उन्होंने बीजक लिखा और उन शिष्यों की माँ को दे दिया। कबीर की मृत्यु के बाद दोनों भाइयों में बीजक के लिए लड़ाई हुई और उन को माता ने दोनों को आधा-आधा भाग दे दिया। यह भी पता चलता है कि कबीर ने भग्गूदास को बीजक लिखवा दिया था। भग्गूदास उसे लेकर घुनीती गाँव चला गया और वहाँ के महन्तों के अधिकार में बीजक आ गया। बाद में इसी की अनेक प्रतिलिपियाँ हुईं। एक किंवदन्ती यह भी है कि कबीर ने बीजक की एक प्रति रीवाँ नरेश को दी थी और दूसरी नानक को। नानक को जो प्रति मिली थी, उसी की साखियाँ गुरु ग्रंथ में १६०५ ई० में गुरु अर्जुनदेव ने संकलित कीं। जो प्रति रीवाँ नरेश को मिली थी, उसी की एक प्रति कबीर के शिष्यों में से धर्मदास की प्रति से ही अन्य प्रतियाँ बनीं। बीजक की भाषा जानवाणी का बहता नीर है। जिस में मुहावरे, कहावतें, अरबी, फ़ारसी तथा अन्य प्रान्तीय भाषा-प्रयोग घुल-मिल कर एक हो गये हैं, ठीक उसी तरह, जिस तरह जन-जीवन में हो जाते हैं। रमते जोगियों की निर्भीक सत्यता उस में है। साहित्यिक कूप-जलीय शीतलता जो कृत्रिम प्रयत्नों से आने पर भी सीमित ही क्षेत्र तक अपना प्रभाव उत्पन्न करती है, उस में नहीं है, इसी से साहित्यिक सरसता, अलंकार तथा छंदशास्त्रीय त्रुटियाँ पाते हैं। वह प्रयासजन्य नहीं है, निर्झर की भाँति झरने वाली है। उस का मुख्य रूप पूर्वी अवधी का है, किन्तु अन्य प्रांतों की प्रवृत्तियाँ

भी उस में विद्यमान हैं। वह खड़ी बोली के प्रयोगों को भी अपने में लीन किये हैं।

उस का व्यापक क्षेत्र है। केवल उच्चवर्ग के पढ़े लिखे लोगों के सवर्णों के ही घेरे में घिरने वाली संस्कृत की चासनी में उस ने अपने को नहीं डुबाया है। इसी में वह दलित-गलित दीनों को आध्यात्मिक सत्यों का अमृत बाँट पाई है और भी उन की जिह्वाओं पर बोलती है। किन्तु पढ़े-लिखे हम लोगों ने उस से परहेज़ किया—आज भी करते हैं, इसी से उन के बीच विष की ज्वाला व्याप्त है और कबीर की आचरण-साधना वे से उसी भाँति कोई लाभ नहीं उठा सके जिस भाँति अपने ही स्वार्थों में लीन आज के अहंभावी जीव, गांधी की प्रेम वाणियों से लाभ न उठा सके। चन्द्रकुँवर ने अपने चारों ओर के सांप्रदायिक झगड़ों से खिन्न हो कर बिलकुल ठीक शब्दों में कबीर को स्मरण किया—

फिर हे कबीर, श्मशान श्वानों से, हिन्दू और मुसलमान लड़ते!
फिर हे कबीर, धर्म के नाम पर, निरपराध मनुष्य बलि चढ़ते!
यही धर्म सीखे हैं तुम्हारे देशवासी।

अभी भी नहीं भारत मे तुम को पहिचाना,
हुई तुम्हारी क्या निष्फल, आमरण साधना?
अभी भी उसी विष को भारत वासी पीते,
देव हमारे मानवों का रक्त पी जीते;
वही खून की प्यास धर्म मरुस्थल में फैली,
आहों से कर रही सत्य की प्रतिमा मैली,
राम-रहीम हो गये हैं आपस में बैरी,
मंदिर मसज़िद में बजती कराल रण भेरी;

तुम ने दीपक सा जल कर जो सत्य दिखाया,
ऐक्य गान तुम ने जो गा गा अमर बनाया,
तोड़ दिया भारत ने वह ऐक्य भाव का ताना,
हुई तुम्हारी क्या निष्फल आमरण साधना ?

बीजक में विषय विभाजन के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के छंद काम में लाये हैं। सब से पहले आदि मंगल है। इस में कबीर पंथ के सिद्धांतों का विस्तार से वर्णन किया गया है। दूसरे भाग में स्वधर्म प्रतिपादन और पर धर्म खंडन, चौपाई छंद में किया गया है। यह रमैनी कहलाता है। तीसरे भाग में दार्शनिक विचारों की व्यंजना पदों में की गई है। यह शब्दी कहलाता है। चौथे भाग में व्यौहार-नीति और धर्म-नीति के दोहे हैं। यह साखी कहलाता है। पाँचवे भाग में एक एक हिन्दी व्यंजन से एक एक पद्य आरम्भ किया गया है। इसमें चौतीस पद्य हैं। इसलिए यह चौतीसा कहलाता है। प्रत्येक वर्ण को आध्यात्मिक अर्थ दिया गया है। मध्यकाल में यह शैली खूब फूली फली। इस का रहस्यमय विस्तार तांत्रिकों और गणितज्ञों के बीच हुआ। छठे भाग में तीस पद्यों में ब्राह्मणों के धार्मिक विचार तथा कृत्यों पर तीखा प्रहार किया गया है। यह भाग तीसी कहलाता है। सातवें भाग में आध्यात्मिक-धार्मिक भजन हैं। कहरवा, बसन्त, चाँचर, हिंडोला आदि रागों में लिखे गये हैं। अन्त में सम्पूर्ण बीजक का उपसंहार संक्षेप में दिया गया है। बीजक में इतना विस्तार यद्यपि है किन्तु कबीर की वाणियाँ साखी, शब्दी और रमैनी तीन ही प्रकार की पाई जाती हैं। साखी इस बात की गवाही देती है कि जिस ने उस की रचना की है, उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो चुका है। हृदय में उद्भूत होने वाले नाद को

जो घोषित करते हैं शब्द वे कहलाते हैं। आनन्द में मन रम गया है, इस बात की सूचना देने वाली वाणी रमैनी है। साखी और शब्दी मूल रूप में भिन्न नहीं थे। धीरे-धीरे उन में भेद होने लगा और अन्त में उन का विशेष प्रकार के छंदों से सम्बन्ध हो गया। इस लिए छोटे पद्य साखी और गेय पद्य, शब्द कहलाने लगे। साखी के लिये प्रायः दोहा छंद चुन गया और शब्द के लिये राग-रागनियाँ। सखियों में जगत् के व्यवहार और पदों में आनन्द की अनुभूति का वर्णन दिखाई देता है, किंतु एक की बातें दूसरे में आने लगीं और वर्ण्य-विषय का यह भेद अधिक नहीं रह सका।

साखी और शब्दी एक प्रकार से मुक्तक रचनाएँ हैं। एक पद और एक साखी की अलग अलग सत्ता है। किंतु रमैनी बड़ी रचना है। जिस में एक विषय का प्रतिपादन कुछ दूर तक निबंध के रूप में किया गया है। रमैनी वस्तुतः दोहा, चौपाई का सम्मिलित रूप है। एक रमैनी में कई पद्य होते हैं। इस रूप में दोहा, चौपाई, इस से पहिले शुद्ध रूप में नहीं दिखलाई देता है। तुलसी उसे परिपक्व रूप पहुँचा देते हैं। हो सकता है, कबीर ने ही इन का आरम्भ किया हो। हो सकता है, पहले ही उन का आरम्भ हो गया हो। किंतु यह भी असम्भव नहीं कि इस प्रकार की रचनाएँ कबीर की न हों। रमैनी का नाम इस सन्देह का कारण है। रमैनी शब्द रामायण का रूप हो सकता है और सम्भव है कि कबीर के नाम से रमैनी किसी ने तुलसी के बाद बनाई हो। पर यह भी संभव है कि कबीर की रचना उस ढंग की देख और रामायण की बोली के अनुरूप उसे पा कर बाद के लोगों ने रमैनी नाम रख दिया हो। कबीर की जितनी रचनाएँ हैं, उन की विशेषता यह है कि वे विचार,

अध्ययन, चिन्तन आदि की परिणाम हैं। किंतु जिस रूप में वे प्रकट की गई हैं, वह रूप सोच-विचार कर नहीं रख गया है। साहित्यिक, सोच-विचार कर, यत्न करके आवरण पहिनाता है। किंतु कबीर ने कभी भी इस का यत्न नहीं किया कि जो बात कही जाय उसे सौंदर्यपूर्ण ढंग से कहा जाय। ऐसा इसलिए हुआ है कि कबीर ने वाणियाँ कही हैं, रचनाएँ नहीं रची हैं। उन में वाणी का विलास उतनाही आया है, जितना बिना सोचे-विचारे आप ही आप विचारों के गहनता के कारण आ सकता था, प्रयत्न के कारण नहीं।

कबीर के नाम की रचनाओं का उद्भव शिष्य और गुरु के वार्तालाप से हुआ है इसलिये उन का वाणी नाम है, जिस का अर्थ उक्ति या कथन भी है। इसलिये कबीर की वाणियों में वह रूप नहीं आने पाया जिस के द्वारा साहित्यिक चमत्कार सम्भव हो सकता है। साहित्यिक चमत्कार के उद्देश्य से कबीर लिख भी नहीं सकते थे, क्यों कि उन का वह उद्देश्य था ही नहीं। उन का प्रधान उद्देश्य था जीवन में अनुभूति सत्य तत्व को वाणी के द्वारा जन समाज तक पहुँचाना। इसलिये उन्होंने साहित्यिक अलंकरणों का उपयोग किये बिना, जो कुछ अपने में अनुभव किया, सरल ढंग से सीधी-सादी भाषा में व्यक्त कर दिया है। देववाणी को कूपजल और जन-वाणी को बहता नीर वे इसी लक्ष्य के कारण कहते हैं—
'संस्कीरत है कूपजल भाषा बहता नीर।'

कहा जाता है कि "कबीर में रेत बहुत अधिक है, ढूँढने से बड़ी कठिनाई से कहीं कोई स्वर्ण कण मिल पायेगा" (बल-देवप्रसाद नौटियाल), "उनकी वाणियों के लिये साहित्य के

इतिहास के अन्तर्गत चाहे स्थान हो, काव्य साहित्य के अन्तर्गत नहीं, काव्य की धारा तो उन में है ही नहीं", (रामचन्द्र शुक्ल) किंतु यह भी तो कहा जा सकता है कि भाषा चमत्कार पर ही कविता निर्भर नहीं है। सभी चमत्कारपूर्ण वस्तुएँ सुवर्ण नहीं हुआ करतीं। और ऊपर से सिक्ता सी दीख पड़ने वाली वस्तुएँ अंतर में ज्योतिहीन भी हो सकती हैं। कबीर की कविता और आध्यात्मिक अनुभूति का घनिष्ट सम्बन्ध है। आध्यात्मिक आनन्द की गहराई का अनुमान इसी से लगा लिया जाता है कि उस के समक्ष जगत् के सारे आनन्द तुच्छ हो जाते हैं। अनुभूति की गहराई को छोड़ कर कविता और कोई दूसरी वस्तु है भी नहीं। अनुभूति की गहराई ही कविता के रूप में परिणत हो जाती है। जितनी गहरी अनुभूति होती है, उतनी ही सुन्दर कविता होती है। यही कारण है कि यद्यपि कबीर ने स्वयं काव्य का बाहरी स्वरूप अपनी कविता में लाने का प्रयत्न नहीं किया, फिर भी उस से उन की कविता वंचित नहीं हुई। भाव की उमंग में कभी-कभी वे सुन्दर अलंकारों भी उद्भावना कर देते हैं, जिस के सौंदर्य का साहित्यिकों को भी अनुभव हो सकता है और वे उस की सुन्दरता पर मुग्ध हो सकते हैं। किन्तु कबीर की सब रचनाएँ ऐसी नहीं हो पाई हैं। इस का भी कारण है—शुद्ध अनुभूतियों को प्रकास में लाने के अवसर जन-समूह केबीच में उतने नहीं मिलते जितने कि जन-समाज की ओर से उपदेशों को सुनने की अभिलाषा के कारण उपदेश देने के। जहाँ कहीं कबीर शुद्ध उपदेशक अथवा दार्शनिक के रूप में दिखलाई देते हैं, वहाँ उतने ही अंश में उन की रचनाओं में काव्य-सौंदर्य का अभाव दिखाई देता है। ऐसे स्थल बहुत

अधिक है, परन्तु ये स्थल उन अड़चनों के रूप में भी लिये जा सकते हैं, जो मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य को देखने के लिये दिव्य पर्वत श्रृंग पर पहुंचने के इच्छुक यात्रियों को उठानी पड़ती हैं। श्रृंग पर पहुँच जाने पर—चतुर्दिक सौंदर्य ही सौंदर्य है। यद्यपि इस में भी यह सन्देह नहीं कि यह सौंदर्य उतनी ही देर तक दिखलाई दे सकता है, जितनी देर तक श्रृंग पर हैं। वहाँ से नीचे उतरने पर यह बात नहीं रह जाती। इस प्रकार कविता के दृष्टिकोण से उच्च स्थल कबीर की वाणियों में कम आते हैं। कबीर, कवि के रूप में कम, उपदेशक और दार्शनिक के रूप में अधिक आते हैं।

अध्यात्म से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर कबीर ने अपनी वाणी का उपयोग किया है। एक प्रकार से उन की वाणी पथ-प्रदर्शक का काम करती है और आनन्द के श्रृंग तक पहुँचने वाले मार्ग का सूक्ष्म विवरण उस के द्वारा प्रस्तुत होता है। गुरु कैसा होना चाहिए, किस प्रकार गुरु के बिना पथ में प्रगति असम्भव है, कैसी संगति से गुरु प्राप्त हो सकता है, सत्संग और कुसंग का क्या अभिप्राय है, तथा नाम का महत्व, मन मारण, वसुधैव कुटुम्बमम् की भावना, काम, क्रोध, मद, मत्सर, आदि का त्याग, जगत् से विराग आदि विषयों-का उस में वर्णन किया है। ऐसे विषयों में काव्य का आना कुछ कठिन काम है। किन्तु यद्यपि कबीर का कभी यह उद्देश्य नहीं था कि हम कविता का प्रणयन करेंगे, फिर भी वे अपनी इच्छा के विरुद्ध कवि बने बिना न रह सके, मानो वाग्देवी ने बलात् उन की जिव्हा पर कविता को ला रखा हो।

कविता में सरलता का, रिजुता का ध्यान कबीर ने सर्वत्र रक्खा है। इस बात को उन्हों ने दृष्टि से कभी ओझल नहीं

होने दिया कि ऊँची श्रेणी के थोड़े व्यक्तियों के लिये उन की कविता नहीं लिखी जा रही है। उन्हों ने भाषा को बहुत सरल और अपने ढंग को इसीलिये सीधा रक्खा है। जो बातें जन-समूह के जीवन से सम्बन्ध नहीं रखतीं, उन का प्रयोग अपनी रचना की प्रभाविष्णुता को बढ़ाने के लिये नहीं किया। सामान्य प्रकृति और जन-सामान्य के व्यवहार क्षेत्र से ही उन्हों ने चित्र आँके हैं, जो उन की रचनाओं को सुन्दरता प्रदान करने वाले हुए हैं। कृषि, वाणिज्य-व्यवसाय, पशुपक्षियों का व्यवहार वृक्ष-लता इन्हीं सब का उन्हों ने अपने विचारों को समझाने के लिये अलंकार की सामग्री के रूप में उपयोग किया है। विचारों का जहाँ तक सम्बन्ध है, कबीर की बातें कठिनता से समझ में आती हैं, पर उदाहरण सब के समझ में आ जाते हैं। भाषा के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो सकता था, कबीर ने समझाया है। पर बिना अनुभूति के उस का ज्ञान नहीं हो सकता। सामान्यतया, माया और ब्रह्म का आनन्द एक साथ नहीं प्राप्त किया जा सकता। ब्रह्म का अनुभव जो कर चुके हैं, उन्हें माया के आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। कबीर ने कठिनता से समझ में आ सकने वाली इस बात के लिये भी छोटा-सा सरल उदाहरण दिया है—

> च्यूँटी चावल ले चली, बिच में मिल गई दाल।
> कहे कबीर दोउ ना मिलें एक ले, दूजी डार॥

चींटी चावल का दाना उठाती है, आगे चल कर दाल मिलती है। वह दोनों को एक साथ नहीं ले जा सकती। एक को ले कर दूसरे को डाल देना आवश्यक है। इस के विरोध में एक स्थान पर उन्हों ने माया और ब्रह्मानुभूति दोनों को साथ भी बताया है।

भेला पाया सरप सों, भवसागर के माँहि।
जो छाड़ों तो डूबयों, गहों तो डसिये जाँहि।

ऐसी स्थिति में ऐसी युक्ति काम में लाये कि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। उसे इस प्रकार पकड़े रहना चाहिये कि वह काट भी न सके और उस से काम भी बन जाय।

माँटी गलणि कुमार की, घणी सहे सिरि लात।
इहि औसर चेत्या नहीं, चूका अब की घात॥
गुरु कुंमार सिष कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अंतर हाथ सहार दे, बाहर बाहें चोट॥
कबीर जड़ तुहि साध पिरंग की, पक्के सेती खेलु।
काची सरसट पेलिकै ना खलि भई न तेलु॥
कबीर थोरे जलि माछुली, झवीवर मेलिओ जालु।
यह टोघने न छूट सहि, फिरि समुद्र सम्बलि॥
नान्हा, कासी चित्त दे, मंहगे मोल बिकाइ।
गाहक राजा राम है और न नेड़ा जाइ॥
बाड़ी आवत देखि करि तरुवर डोलन लाग।
हम काटे को कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग॥
बिनु रखवाले बाहिरा, चिड़िये खाया खेत।
आधा प्रथा ऊबरे, चेति सके तो चेति॥
गगन घटा गहरानी साधो, गगन घटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेड़ सम्हारो, बहो जात यह पानी।
मन के बैल, सुरत चरवाहा, जोत खेत निखानी।
दुविधा दूब छोल कर बाहर, बोव नाम की धानी।
जोग कुगति करि कर रखवारी, चर न जाय मृग धानी।

वालीं झार कूट घर लावे, सोई कुसल किसानी।
पाँच सखी मिल कीन रसोइया, एक ते एक सयानी॥
दूनों धार बराबर परसे, जेवें मुनि अरु ज्ञानी।
कहत कबीर सुनो भई साधो, यह पद है निरवानी॥
जो यह पद को परिचे पावे ता को नाम विज्ञानी।

कबीर ने अन्य प्रकार से भी अलंकारों का प्रयोग किया है, और ढूँढने पर रस भी उन के काव्य में मिल जाते हैं। दाम्पत्य रति प्रधान रूप से मिलती है। संयोग और वियोग श्रृंगार के दोनों अंग भगवत् मिलन और विरह के द्योतक हो कर आये हैं। किन्तु कबीर साहित्य-शास्त्रीय अर्थ में न तो अलंकारिक ही थे और न रस पद्धति के ही ज्ञाता थे। कबीर ने केवल सत्य के लिए जिह्वा का उपयोग किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार कविता वह वस्तु है, जिस में तथ्य को बंधन से मुक्ति मिलती है। इस कसौटी पर कबीर की कविता जितनी खरी उतरती है, उतनी और किसी की नहीं। कबीर की कविता में तथ्य को मोक्ष यदि नहीं मिला तो वह किसी की कविता में संभव नहीं। दूसरे लोग कविता को हृदय और हृदय का व्यापार मानते हैं। हृदय, भाव का उद्गम है। ..बीर की यह विशेषता है कि उन्हों ने तथ्य को बंधन से मुक्त करने के लिये सत्य को भावना का विषय बनाया है। जो वस्तु नीरस तत्वचिन्तकों के ही क्षेत्र में सीमित समझी जाती थी, वह जन-समाज के प्रेम का आलंबल हो गई, कबीर चाहते थे कि विषय-वासनाओं में जो आसक्ति मानव-हृदय को होती है, वही आसक्ति सत्य में अथवा परमात्मा में की जाय, इसलिये कबीर ने अपने ढंग से सब के क्षेत्र में काव्य के लिये जगह निकाली। जिस काम को दार्शनिक मस्तिष्क से करते हैं, उस को उन्हों ने जन-साधारण के लिये संभव करने के लिये हृदय

४ विचलितकुल लक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन,
क्षिति-तलशयनीये येन नीता त्रियामां,
समुदित बल कोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा,
क्षितिपचरणपीठेस्थापितो वामपादः ।
चरितममल कीर्त्तेर्गीयते यस्य शुभ्रम्,

५ दिशि-दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ।
पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंश लक्ष्मीम्,
भुजबल विजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः
जितमिति परितोषान्मातरम् सास्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ।
+ + + + वंशम्प्रतिष्ठाप्य यो० ।
बाहुभ्यामवनीं विजित्य हि जितेष्वातेषु कृत्वा दयाम्,
नोत्सिक्तो न च विस्मितः प्रति दिनं संवर्द्धमान द्युतिः ।

६ गीयैश्च स्तुतिभिश्च वन्दक जनो य प्रापयत्यार्य्यताम्
हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता,
भीमावर्त्तकरस्य शत्रुषु शरा..................

जूनागढ़ चट्टान लेख (गु० स १३६-३७३६४५६—७८ ई)

१ श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनोताम्,
त्रिदशपतिसुखार्थं यो बलेराजहार,
कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः,
सजयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः ।

२ तदनु जयति शाश्वत श्री परिक्षिप्तवक्षः,
स्वभुजजनितवीर्य्यो राजराजाधिराजः,
नरपति भुजगानां मानदर्प्पोत्फणानाम्
प्रतिकृतिगरुडाज्ञां निर्व्विषीं चावकर्त्ता ।

३ नृपति गुण निकेतः स्कन्दगुप्तः पृथु श्रीः
चतुरुदधिजलान्तां स्फीतपर्य्यन्तदेशाम्,
अवनिमवनतारिर्यश्चकारात्मसंस्थाम्
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या।

४ अपि च जितमेव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य,
रिपवोप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।

५ क्रमेण बुद्ध्यानिपुणं प्रधार्य,
ध्यात्वा च कृत्स्नांगुण दोषहेतून्,
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्
लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार।

६ तस्मिन्नृ पे शासति नैव कश्चिद्
धर्म्मादपेतो मनुजः प्रजासु,
आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्य्यो
दंड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात्।

७ एवं स जित्वा पृथिवीं समग्राम्
भग्नाग्रदर्पान द्विषतश्च कृत्वा,
सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्त्रीन
संचितयामास बहुप्रकारम्।

८ स्यात्कोऽनुरूपो मतिमान्वितीतो
मेधास्मृतिभ्यामनपेतभावः।
सत्यार्जवौदार्य्यनयोपपन्नो
माधुर्य्यदाक्षिण्य यशोऽन्वितश्च।

मध्य काल (ईसा की सोहहवीं-सतरहवीं शताब्दी) में हिमवंत गिरावली में ज्योतिकराय भरथ कृत मानोदय काव्य में कलिदास के स्वर सुनाई देते हैं।

भिटारी और जूनागढ़ के इन लेखों का उपयोग करते हुए राखालदास बनर्जी ने अपना करुणा उपन्यास लिखा। जयशंकर प्रसाद ने स्कंदगुप्त की रचना की। पर रोम्स साम्राज्य के ध्वंस का इतिहास, भिन्सेन्ट स्मिथ की अर्ली हिस्ट्री औफ़ इंडिया तथा इन उपरोक्त शिला लेखों और रचनाओं से जो सार खींचा जा सकता था :उसे खींच कर डाक्टर वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने कालिदास के रघुवंश के भाव तन्तु—

व्ययूढ़ोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्ममहा भुजः।
आत्मकर्मक्षयं देहं क्षात्रों धर्म इवाश्रितः॥

को रसंधार में परिणत कर अपना 'परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त' लेख लिखा—

"गुप्तवंश महीपति स्कंदगुप्त, भारतवर्ष के एक सेनानी हैं। इस देश में क्षात्र-धर्म को मूर्तिमान करने वाले व्यूढोरस्क और महाबाहु जितने सेनाध्यक्ष जन्मे हैं उन सब में हिमाद्रि शिखर के समान सर्वाभिभावी एक स्कंदगुप्त ही हैं। जिन दुर्दान्त हूणों की प्रबल अनीकिनी ने रोम-साम्राज्य को भी ध्वस्त कर दिया था उन्हीं बर्बर अश्वारोहियों से भारतीय-सभ्यता की रक्षा करने वाले गुप्त,वंशैक वीर को स्कंदगुप्त कहते हैं।

मध्य एशिया में चींटियों की नाईं असंख्य दल बाँध कर जंगली हूण, चीन से फ्रांस तक समस्त भू प्रदेश पर फैल गये थे। डैन्यूब से भलगा तक तथा थ्यूरिंजिया, रोम और गौल में उन की लपलपाती हुई तलवारों ने अनगिनित मनुष्यों को चाट लिया। इन के कंधे बड़े-बड़े, नाकें बैठी हुई और आँखें काली काली सिर में घुसी हुई रहती थीं। क्रोध के समय पुतलियाँ इधर से उधर डोलती थीं। मृत्यु को गेंद की तरह ठुकराते हुए ये, भीषण काय घोड़ों पर सवार, समस्त धन और

जन, नगर और देशों को रौंदते हुए, चलते थे। जिस वरबंड अटिला या एटलज के भयंकर अत्याचारों का स्मरण कर यूरोपवासी काँप उठते थे, उसी के समान प्रलंयकर व्यक्तियों से समरांगण में लोहा ले कर जिस ने अपने भुजदंडों से पृथ्वी को कंपायमान कर दिया था उस अद्वितीय सेनानी स्कन्दगुप्त को सचमुच भारत का गोता या त्राता कहना चाहिए।

ये स्कन्द गुप्त सब नृपति-गणों के निकेत थे। उन्हों ने कुमार अवस्था में ही वीरोचित अनेक कार्य किये। अपने पिता कुमार गुप्त के जीवन काल में ही स्कंदगुप्त ने सैन्य संचालन में अद्‌भुत पटुता प्रदर्शित की थी। इसीलिए शौर्य रंजित उन के असल चरित्रों के स्तुति-गीत बन्दी जन, कुमार काल से ही प्रारंभ करते थे—

चरितममलकीर्त्तेर्गीयते यस्य शुभ्रम्
दिशि-दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः।

अन्य राजाओं के चरित्र तो अभिशेष के पश्चात् गाये जाते हैं परन्तु स्कन्दगुप्त ने युवराज रहते ही अपनी भुजाओं के प्रचंड पराक्रम का परिचय दिया था, इसलिए उन के यश का गान, कुमार काल से ही प्रारंभ किया गया।

कुमारगुप्त के समय में मालवा के पुष्यमित्रों का बल बहुत बढ़ गया था। उन के बढ़ते हुए वैभव की टक्कर गुप्त साम्राज्य से हुई। शिलालेखों की ध्वनि से यह स्पष्ट विदित होता है कि धन बल संपन्न पुष्य मित्रों के सामने गुप्त सेना को हारना पड़ा, कदाचित् इसी समर के समय कुमार गुप्त का अंत हो गया। कुल क्रमागत वंश-लक्ष्मी विचलित हो गई। चंचला ने जिस समुद्रगुप्त के वंश का वरण किया था उस में कुमारगुप्त ऐसे

लोलुप नृपति के उत्पन्न होने से अभिमत भोग्या लक्ष्मी विलुप्त हो चली। उसे एक नये सर्वगुण सम्पन्न वर की आवश्यकता हुई। इसीलिए प्रशस्ति लेखकों ने परम भागवत श्री स्कंदगुप्त को अनुरूप मूर्तिमान, विनीत, मेधा-स्मृति-विभूषित सत्य, आर्जव, औदार्य और नय से उत्पन्न, अनुरक्त, भक्त आदि विमल विशेषणों से याद किया है। ऐसे मनुजेन्द्र पुत्र को, सारे गुण-दोषों की समीक्षा कर के विचार पूर्वक लक्ष्मी ने फिर अपना स्वामी वरण किया।

जिस समय स्कंदगुप्त सिंहासन पर बैठे, पुष्यमित्रों के युद्ध का घाव ताजा था। चारों ओर सैकड़ों शत्रु राज्य पर दाँत लगाये हुए थे, मानों सैकड़ों काल सर्प दर्प से फण ऊँचा कर के गुप्त वंशैकवीर को डसने की ताक में हों। सारे देश की शान्ति खतरे में थी। भारत में राजसत्ता की कमर टूटते ही सर्वत्र अव्यवस्था फैल जाती। उत्तर पश्चिम के दर्रों पर प्रचंड हूण टकरा रहे थे। एक बार रक्षा का बांध टूटते ही सारा देश और सभ्यता हूणों की बहिया में बह जाती। यहीं पर स्कन्दगुप्त की महिमा है। जैसे तपस्वी क्षत्रिय की आवश्कता थी वैसा ही उस समय स्कंदगुप्त के रूप में उत्पन्न हो गया। उन्हों ने समस्त नृपति भुजंगों का विष गरुड़ के समान पान कर लिया। स्कंदगुप्त जैसा बली योद्धा उस समय यदि उत्पन्न न होता तो भारतवर्ष में भी मध्य एशिया की भाँति ही पहली सभ्यता पर चौका लग जाता। हम लोग हूणों को न पचा पाते, हूण ही हमें पचा जाते। हूण आये सही, पर वे तूफ़ानी नदी की तरह सामने आने वाली वस्तुओं को न बहा सके।

उन्हें जो मार्ग दिया गया उसी से उन को शनैः-शनैः धँसना पड़ता, उस का प्रमाण हाथों हाथ देखने को मिला।

जिन हूणों ने रोम को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, भारत में उन्हीं के वंशज राजाओं ने संस्कृत में शिलालेख लिखवाये, तूरमाण के लेख में पहले ही वाराह अवतार की स्तुति की गई है। पश्चिम में जिन के घनघोर आघात से महीधर भी डोल गये, उन्हीं हूणों में इस देश में इतना परिवर्तन कैसे हो गया? इस का सारा श्रेय सेनानी स्कंद को दिया जाना चाहिये। देवासुर संग्राम की कल्पना में कुमार कार्तिकेय ने देवों की रक्षा जैसे की थी, वैसे ही हूण-गुप्त अथवा हूण-भारत युद्ध में स्कंद गुप्त ने भारत को बचा लिया। उस ने अपनी अपार सेना के भालों और खड्गों का महा जाल पूर कर सघन वन की नाईं हूणों की दुर्धर्ष गति को रोक दिया। उस वन से मार्ग निकालने में ही हूणों के सारे बल और स्फूर्ति का अन्त हो गया; देश की सभ्यता की रक्षा हो गई।

प्रशस्ति के लेखक ने स्कन्दगुप्त के इन पराक्रमों का स्रोत खोज निकाला है। उन का कहना है कि चतुरुधदि जलान्ता अवनी को आत्माधीन कर ने का श्रेय स्कन्दगुप्त की आत्मशक्ति को ही है। इस शक्ति का कुछ परिचय भितरी लेख में वर्णित पुष्यमित्र युद्ध की एक घटना से मिलता है। समस्त सेना जब हतोत्साह हो चली, तब उस में नया जीवन फूँकने के लिए स्कन्दगुप्त ने कड़ी पृथ्वी पर सो कर एक रात बिताई "क्षिति-तल शयनीये येन नीता त्रियामा", सेना के लोग इस प्रकार की तपस्या जहाँ करें वहाँ क्षात्र धर्म कैसे न समुद्दीर्ण हो। इस प्रकार स्कंदगुप्त के एक रात बिताने के पश्चात सेना का उत्साह पुनः उत्पन्न हो गया मानों स्वयं सम्राट ही सहस्र रूप धारण कर सैनिकों के अंतर से मिल गये हों। पुष्यमित्रों की बाढ़ तुरंत रुक गई। गुप्त

साम्राज्य की विघटित नींव पुनः सुदृढ़ हो गई, इस विजय का राजनीतिक महत्व बहुत है। यदि सवा सौ वर्षों से दृढ़-संस्थ गुप्त-साम्राज्य के पैर उखड़ जाते तो उत्तरी भारत में सीमा प्रदेश की रक्षा करने वाला कोई न रह जाता, गुप्त साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते ही फिर देश में किसी में भी इतना पौरुष न था, स्कंदगुप्त के समान अभेद्य प्राचीर खड़ी कर के हूणों की बाढ़ को जो रोक लेता। हूणों के धक्कों के आगे रोम का दिखावटी सम्राट थ्योड़ोसियस बालू की भीत की भाँति बिखर गया था। उस के राज्य में हूणों के घोड़े स्वच्छंद भाव से सर्वत्र विचरने लगे। उन की टापें जिधर पड़तीं प्राणियों की तो गति क्या, जंगली घास तक समूल नष्ट हो जाती थीं परन्तु भारतवर्ष में हूण साम्राज्य की गाथा दूसरे शब्दों में कही जाने योग्य है। इस देश के तत्कालीन अदम्य पौरुष को कालिदास का निम्न श्लोक संभवतः व्यक्त करता है—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्
कपोल पाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् (र० ४ ६८)

देश में हूण घुस भी न पाये थे कि उदीची दिशा में आगे बढ़ कर, देश की प्राकृतिक सीमा पर ही उन्हें रोका गया। परन्तु जिस सेना की कुछ संख्या ही नहीं उस के सम्मुख, संसार का कोई भी सेनानी सदा कैसे खड़ा रह सकता है? हाँ, प्राण रहते स्कंद गुप्त भी हूणों को संतत परास्त करते रहे।

हूण किसी देश में जम कर राज्य करने के लिए नहीं आये थे। वह एक आँधी थी जो उठी और सामने की सब वस्तुओं को विध्वंस करती चली गई। यही दशा इस देश में भी होती, यदि यहाँ इस आँधी सारा वेग शेष नाग के समान सहस्र मुखों से एक सेनापति पान न कर गया होता, जो बचा वह

केवल एक हलका-सा झोंका था, जिस से सभ्यता का कुछ बना बिगड़ा नहीं। इस आहुति में पड़ने से गुप्त साम्राज्य स्वयं मिट गया, तो भी उस की महिमा का स्मरण करने के लिए भिटारी प्रशस्ति की, 'हूणैर्यस्य सम्मतगतस्य समरेदोर्भ्यां धरा कंपिता' आदि पंक्तियाँ अब भी हमें विवश करती है। सच है उज्ज्वल क्षात्रधर्म का निर्माण ही मर कर रक्षा करने के लिए होता है।"

प्रसाद की कामायनी, ध्रुवस्वामिनी, चन्द्र गुप्त, स्कंदगुप्त, आँसू तथा अजातशत्रु सभी रचनाएँ कालिदास के पीयूष वर्षी स्वरों के रस से सींची जाने से हरी-भरी हुई हैं।

चन्द्र कुँवर स्वयं तो अपने को कालिदास का लघु अनुचर ऐसा सुमन मानते हैं जिस को खिलने का अवसर उस मलय-पवन कालिदास के हाथों मिला है किन्तु मेरी दृष्टि में कालि-दास ने भी बीसवीं शदाब्दी में दो रूप लिए हैं। गंगा के मैदान में डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल में और हिमवन्त के केदार-खंड में चन्द्र कुँवर में कालिदास मूर्तिमान हुए हैं।

हिमालय में कालिदास की आत्मा के स्वर जिन के प्राणों के हिमवन्त में चाँदनी की तरह सदैव खिले गूँजते रहे उन चन्द्रकुँवर में कालिदास ने हिमवन्त-किन्नर का तो रूप लिया ही है, किन्तु चन्द्रकुँवर का संपूर्ण साहित्य हिमालय और कालिदास ही है। पयस्विनी, प्रणयिनी, नंदिनी, गीत माधवी, नागिनी, जीतू सभी रचनाओं में किन्नर-कवि के गंधर्व स्वर विद्यमान हैं। हिमवन्त किन्नर की करुण चाँदनी रघुवंश की निर्वासिता सीता और कण्व आश्रम से विदा होती शकुन्तला को सामने ले आती है। आरंभ में हिमालय वर्णन रितु संहार, मेघदूत, कुमार संभव आदि रचनाओं का सौन्दर्य अपने

में समेटे है। कालिदास के शाकुन्तलम् की प्रियम्वदा में भी यही चेतना काम कर रही है—

"प्रियम्वदा उन युवतियों में से है, जिन्हों ने फूल सदा खिलते ही देखे हैं, मुरझाते कभी नहीं, जिन के अधरों से उच्छ्वासें कभी नहीं निकलती हैं, जिन के सुख की नदी का जितना पानी बहता है, उतना ही फिर अपने आप भर आता है, और जो न तो सदा के लिए जाते हुए पानी को देखती हैं और न चाने के ही लिए आते हुए पानी को। (२) कालिदास ने प्रियम्बदा की मूर्ति भी यद्यपि गढ़ी है और उस में प्राणों का संचार भी किया है लेकिन प्राणों को पाने पर प्रियंबदा का व्यक्तित्व कालिदास के व्यक्तित्व से उसी तरह अलग हो गया है जैसे लक्ष्मी का समुद्र से। प्रियम्वदा इतनी सजीव है कि कालिदास की तूलिका से बनी हुई नहीं, कालिदास के रक्त से बनी हुई वह,जान पड़ती है, इसलिए प्रियम्वदा और कालिदास को मैं,अलग अलग करता हूँ। (३) कालिदास की कविता में प्रियम्बदा, सजीव मूर्ति की तरह बोलती है। केसर वृक्ष के पास झुकी हुई शकुन्तला को देख कर वह कहती है– "हला, शकुन्तले, पल भर उसी केसर-वृक्ष के पास ठहरी रह, तुझ से यह (केसर-वृक्ष) सनाथ-सा लगता है।" कालिदास की प्रेम-भरी वही, दृष्टि है, जो चर और अचर दोनों को उसी प्रेम के सजीव भाव से देखती है। इस प्रेममय जगत में मानवों को पेड़ प्यार करते हैं और पुष्प स्तवक विनम्रा लतिकाओं को मानव। इस प्रेम-राज्य की रानी शकुन्तला है, बन-ज्योत्स्ना में नये फूल देख कर वह खुश होती है कि ज्योत्स्ना शादी होने लायक अब हो गई है और सहकार से स्वयंवर वधू की तरह घुल मिल रही है। प्रियम्वदा इसी रानी

की सखी है, वह जानती है कि सहकार को छोड़ कर और किसी भी तरु से माधवी लता का विवाह नहीं हो सकता; सागर को छोड़ कर महानदी और कहीं नहीं जा सकती। जब उस प्रेम गगन की सुधा वर्षिणी रानी दूसरे लोक को प्रकाशित कर ने के लिए बन राजि से अन्तर्हित हो जाती है तो उस बन के मयूर नाचना छोड़ देते हैं, मृग भी शोक से कुश के कवल नहीं खा सकते और उसे उद्गलित कर देते हैं, लताएँ पीले पत्तों के आँसू गिराने लगती हैं। उस तपोवन की चन्द्रिका की गोदी से अलग होता हुआ मृग-शावक उस के पीछे-पीछे दौड़ ने लगता है, वह रोती हुई उसे वारण करती है, अपनी प्यारी बन ज्योत्स्ना से लिपट कर वह कहती है—'सखि, मैं आज तुम से दूर चली जाऊँगी' बन ज्योत्स्ना पत्तों को हिला कर पूछती है—'सखि फिर कब मिलोगी ?' शकुन्तला इस का उत्तर आँसुओं में देती है। अनुसूया और प्रियम्वदा के हाथ वह उसे सौंपती है, प्रियम्बदा विकला चकोरी की तरह पूछती है—"सखि! मुझे किस के हाथ छोड़ी जा रही हो ?" और इस से आगे वह नहीं बोल सकती। पर शकुन्तला को जाना ही होगा, वह चली जाती है! प्रियम्बदा के लिए सारा तपोवन शून्य हो गया। आधी रात में जब द्वादशी की चन्द्रिका डूब जाती है, उस के बाद जिस तरह आकाश रुलाने लगता है, उसी तरह वह तपोवन भी उदास हो गया। प्रियम्वदा उस तपोवन में प्रवेश ही नहीं कर पाती। जब बन ज्योत्स्ना पूछेगी, 'शकुन्तला को क्या तुम ने जाने दिया ? वह कहाँ है मैं प्यासी हूँ, क्या वह मुझे जल नहीं देगी ? क्या वह सचमुच चली गई ? तब वह उसे क्या कह कर संतोष देगी! शकुन्तला के विरह से बन ज्योत्स्ना के कुसुम गिरि पड़ेंगे, शरीर कृष हो जावेगा, किसलय बिखर जावेंगे, बन ज्योत्स्ना

शायद उस तपोवन में नहीं रह सकेगी ! मृग-शिशु अपनी जल से भरी आँखों से उसे शकुन्तला का सम्वाद जब पूछेंगे, उस के पैरों में करुण स्वर करते हुए फिरेंगे तब वह उन को क्या कहेगी—कि शकुन्तला कुछ ही दिनों में लौट आवेगी, यही वे मृग शावक रात-दिन उसी रास्ते को देखते रहेंगे, जिस से शकुन्तला आवेगी, रोमन्थन करना भूल जावेंगे प्रियम्वदा उन को किस तरह कुश खिला सकेगी ? वह गर्भ मन्थरा मृगवधू आँगन से उसी पथ को देखती रहेगी। प्रियम्वदा उसे किस तरह मनावेगी। और शकुन्तला ने अपनी प्रजा प्रियम्वदा के हाथों सौंपी है। वह प्रियम्वदा अब शरीर धारिणी करुणा बन गई है पाले से मुरझाई हुई नलिनी-सी हो गई है। कल ही तो वह कुल हँस ही हँस रही थी और आज कुल रो ही रो रही है और न जाने कब तक रोवेगी। (४) किन्तु जब तक प्रियम्वदा के साथ शकुन्तला है, तब तक वह वर्षा से भरी मेघ माला की तरह सानंद मन्द-मन्द हँसती हुई विचरण करती है। शकुन्तला, दुष्यन्त के पर्वतों पर पतित हो जाती है, तो प्रियम्वदा उस आदर्श वन के नील गगन में अकेली ही घूमती रह जाती है। उस की हँसी, अब देखने वाले को रुलाने लगती है। वह अपने पहिले रूप की छाया मात्र रह जाती है। (५) शकुन्तला को उपदेश देने के बाद कण्व ने जब कहा था—"वत्से, मुझे तथा सखियों को भेंट लो, हम लौट जावेंगे;" शकुन्तला ने कुछ आश्चर्य में तब पूछा था—"तात ! क्या यहीं से सखी प्रियम्वदा और अनसूया लौट जावेंगी !" काश्यप ने कहा था–'हाँ ये दोनों भी प्रदेया हैं !' (६) प्रदेया हैं ! एक प्रदेया शकुन्तला भी तो थी, जिस ने अपना विश्वास, अपना प्रेम, अपना यौवन एक ऐसे पुरुष को दिया था, जिस ने उस आपन्नसत्वा को अंगीकार करने से साफ इनकार

कर दिया था। शाङ्गरव और शारद्वत यह संबाद ले कर जब लौटे होंगे गौतमी के उदास मुख को देख कर सारे आश्रम ने यह बात जब जान ली होगी, काश्यप ने यह हृदय विदारक समाचार जब सुना होगा तब भी क्या उस की सांसारिक पुरुषों पर आस्था शेष रह गई होगी! तब भी क्या उन्हों ने कहा होगा—'ये भी प्रदेया हैं!' (७) और प्रियम्बदा ने शकुन्तला के दुख के होने के बाद जब देखा होगा, उस प्रकार प्रतिज्ञा करने वाला पुरुष, जिस ने शकुन्तला से कहा था कि प्रेम तुम्हें तापित ही करता है, लेकिन मुझे तो जलाये डालता है जिस ने प्रतिज्ञा की थी कि आज से मेरी दो ही स्त्रियाँ होंगी, एक तो समुद्र मेखला पृथ्वी और दूसरी मणि मेखला शकुन्तला वही पुरुष फिर शकुन्तला को धोखा दे गया, तब भी क्या पुरुष जाति को वरण करने में उस का विश्वास शेष रह गया होगा!"

किन्नर कवि कालिदास के स्वर इस प्रकार से आज भी सौन्दर्य सृष्टि कर रहे हैं।

२५—किन्नर कालिदास

उत्तर की ओर खड़े हुए हिमालय नाम पर्वतों की एक गुहा से अचानक बाहर निकलती हुई, अनन्त निर्झरों की शक्ति को पीती हुई सुधा धवला गंगा, प्रयाग के पास आ कर न जाने कब से नीली यमुना से मिल रही है। वैदिक रिषियों

ने उसे देखा था, रामचन्द्र के कंधे पर सिर रख कर, राह चल ने से थकी हुई सीता ने उसे देखा होगा, चाँदनी रात में अपने प्रासाद के शिखर पर विचरते हुए अनिद्र पुरुरवा ने भी देखा होगा, दूर साँवली यमुना, गंगा की बाँहों में बँध कर अस्फुट कोलाहल कर रही है पर उस की उर्वशी का पता नहीं।

गंगा और यमुना का मिलन कालिदास ने भी देखा। उस समय महाकवि शायद प्रयाग ही में रहते थे। वे चुपचाप बैठ कर गंगा-यमुना का अंतहीन संगम देखते रहते थे।

शरद का समय था। गंगा स्वच्छ हो चुकी थी, केवल कभी-कभी उस के तट टूट जाते, क्षण भर के लिए वह मैली हो जाती, किन्तु क्षण ही भर में वह सँभल जाती और स्वच्छ दर्पण की भाँति चमक उठती। उस दिन देर तक संगम की शोभा, कवि देखते रहे। मन में अनेक भाव उठते थे लेकिन वे व्यक्त नहीं कर पाते थे।

कुछ दिनों के बाद, रामचन्द्र और सीता के साथ लंका से कवि जब लौट रहे थे, उन्हें पुष्पक विमान से गंगा-यमुना संगम देखने का मौका मिला। उस समय उन्हों ने चार श्लोक लिखे—

१ क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैः मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सित पंकजानाम् इंदी वरैरुत्खचितान्तरेवा ५४

२ क्वचित्खगानां प्रियमानसानाम् कादम्ब संसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दन कल्पितेव ५५

३ क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिः छायाविलीनैः शवलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्र लेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशः ५६

४ क्वचिच्च कृष्णोरग भूषणेव भस्मांगरागा तनुरीश्वरस्य,
पश्यानवद्यांगि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुना तरंगैः ५७

संगम पर विचित्र वर्णों की और विचित्र रूपों की सृष्टि हो रही थी यमुना की नीली लहर और गंगा की धवल लहर दो दिशाओं से आ, एक दूसरी में विलीन हो क्षण भर के लिए जब वहीं पर झूलने लगती, ऐसा मालूम होता, इन्द्रनील मणियों तथा हीरों की बनी हुई हार की लड़ी काँप रही हो। गंगा और यमुना दोनों का कुछ शान्त जल, किनारे के निकट आ कर कभी चुपचाप हिलता रहता. श्वेत कमलों और नील कमलों की बनी हुई मालाएँ भूमि पर मानो रक्खी हुई हों मानसरोवर की ओर जाती हुई राज हंसों तथा कादम्ब हंसों की पंक्ति की तरह कहीं तो गंगा और यमुना का जल, जल्दी-जल्दी अपने पंखों को चलाता हुआ सुदूर क्षितिज की ओर बढ़ा जा रहा था और कहीं पर चन्दन से लेपित पट पर काले अगरु से बनाये हुए चित्र की भाँति वह निश्चल पड़ा हुआ था। गंगा के चौड़े स्थिर प्रवाह में यमुना का जल कहीं कहीं पर दिखाई दे रहा था ठीक वैसे ही, चाँदनी में छायाएँ जैसे दिखाई देती हैं, या शरद के झीने मेघ रंध्रों से नीले आकाश का कुछ भाग दिखाई देता है। गंगा के जल में भी यमुना की कोई लहर कभी दौड़ उठती, ठीक वैसे ही जैसे कि भस्म-विभूषित शंकर के शरीर में नागिनी। ज्यादा देखने का कवि को मौका नहीं मिला। चौदह वर्ष तक घर से दूर रहने के कारण, घर जाने की जल्दी में राम थे। और सब से ज्यादा अकुला रही थीं सीता। विवश हो कर कवि को उन के साथ आगे चलना पड़ा।

(प्रकृति वर्णन) कालिदास असीम सौन्दर्य के प्रकृत कवि थे। उन के काव्य में प्रकृति बोलती है। वह अपने अंचल में होने वाले सुख-दुख से अपरिचित नहीं रहती। राम जल्दी

में हैं, सीता अपने मुख को मंडित कर ले इतनी देर तक भी वे नहीं ठहर सकते, वे उन में विम्बाधरों का पान करने के लिए आकुल हैं। ठीक इसी समय समुद्र के किनारों से पवन चल उठती है, और केतकी सौरभ से सीता के मुख को चित्रित कर देती है—

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि।
मामक्षणं मंडन काल हानेः वेत्तीव विम्बाधर वद्धतृष्णाम्।

भोली सीता को बन में छोड़ने के लिए लक्ष्मण लिए जा रहे हैं। उन रुचिर प्रदेशों में विचरती हुई सीता अपने प्रति पति के प्रेम को देख कर गद्‌गद्‌ हो रही थी, उसे कहाँ मालूम था कि उस के वृक्ष राम उस के लिए असि पत्र वृक्ष हो गये हैं। लक्ष्मण और सीता, जान्हवी के तट पर खड़े हो जाते हैं, इतने में लक्ष्मण देखते है उन्हें सीता परित्याग जैसे क्रूर कर्म को न करने के लिए मानो कह रही है—

गुरोर्नियोगावनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन्।
अवार्यतोवोत्थितवीचिहस्तैर्जन्होर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात्।

सीता को बन में अकेली छोड़, लक्ष्मण चल दिये दुख और शोक की मारी सीता, विग्न कुरारी की भाँति रुदन करने लगी। उस के क्रंदन सुन मोरों ने नाचना छोड़दिया, वृक्ष फूलों के रूप में आँसू गिराने लगे, हरिणों ने चबाए हुए दर्भों के कवल छोड़ दिए, सारी वनस्थली में सीता का शोक व्याप्त हो गया—

तथेति तस्या प्रति गृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते,
सामुक्त कंठे व्यसनाति भारात् चक्रंद विग्ना कुररीवभूयः।
नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा, दर्भानुपात्तान विजुहुर्हरिण्यः,
तस्या प्रपन्ने समदुःख भावम् अत्यंतमासीत् रुदितं बनेऽपि।

जिन के हृदय का शोक, क्रौंच वध के अवसर पर श्लोक में बदल गया था वे वाल्मीकि इस कुररी क्रंदन से खिंचे चले आते हैं—

तामभ्यगच्छद्रुरितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाययातः।
निशाद विद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।

वाल्मीकि आदि कवि कहलाते हैं। आदि कवि यदि वे हैं तो प्रकृति की सुन्दरता के भी आदि कवि वाल्मीकि ही माने जावेंगे। वाल्मीकि आदि कवि हों न हों, कालिदास की कविताओं पर वाल्मीकि की गहरी छाया पड़ी है। रामायण पढ़ते-पढ़ते, पवन तनय को राम का संदेशा ले कर अशोक वाटिका में सीता के पास जाते देख, कालिदास के हृदय में आषाढ़ के पहले मेघ को देख कर किसी विरही यक्ष की व्यथा जागी। पवन तनय नीचे लंका की ओर उड़ता है और मेघ ऊपर अलका की ओर। यक्ष की बधू भ विरहिणी सीता की छाया है, अलकापुरी के निर्माण में महात्मा रावण की सुवर्ण-मयी लंका का भी हाथ कुछ हो सकता है। यक्ष कहता भी है, हे मेघ! संदेश को मेरी बधू ऐसा सुनेगी जैसा कि सीता ने पवन-तनय के हाथों भेजे गये राम-संदेश को सुना था—

इत्याख्याते पवन-तनयं मैथलीवोन्मुखी सा,
त्वामुत्कंठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य सम्भाव्य चैवम्,
श्रोष्यत्यस्मात् परम विहिता सौम्य सीमन्तिनीनां,
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतस्सङ्गमात् किंचिदूनः।

और अंत मे यक्ष चाहता है कि उस की प्रेयसी के पास से मेघ कोई स्मृति चिन्ह लावे जैसा कि सीता के पास से पवन तनय लाये थे—

आश्वास्यैनां प्रथमविरहादुग्रशोकां सखीं मे,
शैलादस्मात् त्रिणयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः,
साभिज्ञानप्रहित कुशलै स्तद्वचोभिर्ममापि,
प्रातः कुन्द प्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः।

"हे मेघ! मेरी उस सखी को जिस ने विरह के उग्र शोक को पहली बार सहा है, मेरा संदेश सुना कर आश्वासन देना। और उस कैलाश से लौटती बेर जिस के शिखर को शिव जी का नादिया अपने सींगों से खोदा करता है, उस सखी का स्मृति चिन्ह लेते आना। उस का संदेश मेरे मुरझाते प्राणों को तुम जब सुनाओगे वे टकटके हो जावेंगे, उन में जीवन आ जावेगा।" रघुवंश में वाल्मीकि की छाया और भी स्पष्ट है। वाल्मीकि रिषि की वन्दना भी कालिदास ने उस ग्रंथ में की है।

कालिदास की प्रकृति, शांत और कोमल भावों से अधिकतर भरी हुई है। वह, रिद्धि-सिद्धि वितरण करती रहती है। समुद्र के किनारे, कूजित पूग मालाओं (सुपारियों) से ढके हुए रहते हैं। वहाँ बालू पर सीपियाँ फट पड़ती हैं और उन के भीतर के उज्ज्वल मुक्ताफल चारों ओर बिखर जाते हैं—

एतेवयं सैकतभिन्न शुक्ति पर्यस्तमुक्ता पटलं पयोधेः,
प्राप्ता मुहूर्तेन विमान वेगात्, कूलं फलावर्जितपूगमालम्।

पंचवटी, जिस के आम्रवृक्षों को तन्वंगी सीता ने अपने हाथों से जल दे कर सींचा था, अपने मृगों के सहित उन्मुख हो कर रामचन्द्र को देख रही है—

एषात्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसंवर्धित बाल चूता,
आनंदयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पंचवटीमनो मे।

यह पंचवटी प्रसन्न और कोमल है,भवभूति की पंचवटी की भाँति भीषण और भोग रूक्ष नहीं है, उस में कहीं ऐसी गुफाएँ नहीं हैं, जहाँ कि जवान भालू सशब्द थुथकारते हुए, जल पीते हैं, जहाँ निःशब्द पहाड़ों की जलहीन गुफाओं में अजगर कड़ी धूप में पड़े हुए हैं जिन का पसीना प्यासी छिपकलियाँ पी रही हैं—

१ स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरुक्षाः,
स्थाने-स्थाने मुखर ककुभो झांकृतैर्निर्झरणाम्,
एते तीर्थाश्रम गिरि सरिदर्तकान्तारमिश्राः,
संदृश्यन्ते परिचितभुवो दंडकारण्य भागाः ।

दंडकारण्य के ये प्रान्त जो कहीं सुन्दर, कहीं श्याम और नयनाभिराम हैं और कहीं चित्त को क्षोभ देने वाले भयानक हैं, इन में स्थान-स्थान पर निर्झर झर-झर झंकृत हो रहे हैं। ये तीर्थ, आश्रम, पर्वत, और सरिताएँ और बन परिचित से लग रहे हैं।

२ दधति कुहर भाजाम् अत्र भल्लूकयूनाम्,
अनुरसित गुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि,
शिशिर कटु कषायः स्त्यायते सल्लकीनाम्,
इभगलित विकर्ण ग्रंथिनिष्यन्दगंधः ।

कन्दराओं में रहने वाले जवान भालुओं के निष्टीवन करने से प्रतिध्वनि द्विगुणित रूप में सुनाई पड़ती है। शिशिर रितु में हाथियों के द्वारा मर्दित इधर-उधर विस्तृत सल्लकी के तृणों से निकली कटु और काषाय सुगंध अतिशयता से फैल रही है।

३ निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चंडसत्त्वस्वनाः,
स्वेच्छासुप्त गभीर भागभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः,

सीमानः प्रदरोदरेषु विरल स्वल्पाम्भसो यास्वयं,
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैर जगर स्वेदद्रवः पीयते ।

जंगली जीव कहीं निश्चल बैठे हैं, कहीं अत्यन्त घोर शब्द कर रहे हैं और कहीं बड़े बड़े शरीर वाले सर्प तीव्र वेग से अपनी विषाग्नि उगल रहे हैं, कहीं गर्त में रहने वाली छिपकलियाँ जल के अभाव के कारण अजगरों से टपकती हुई पसीनों की बूदों क पीती हैं ।"

कालिदास की प्रकृति वीभत्स आदि भावों को वह कभी-कभी ही जगाती है—(र० ११ वाँ ५८-५६-६०)

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः,
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम्,
लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेशमण्डलः ,
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ।
श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः,
अंगना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ।

"सहसा ही मार्ग में प्रति कूल प्रचंड मारुत, ध्वजाओं-वृक्षों को उखाड़ता हुआ, नृपदल को दहलाता हुआ ऐसा ही चलने लगा जैसे प्रखर धार वाला नद अपने किनारों को तोड़ता-फोड़ता बाँधों को क्षुब्ध करता हुआ चलता है। और दूसरे ही क्षण प्रचंड परिधि मंडल से घिर कर मार्तंड (सूर्य्य) ऐसा प्रकट हुआ मानों गरुड़ के पंजे में आये हुए सर्प से मणि गिर गया हो। जिन के सांयकालीन मेघ-पट रक्त से आर्द्र हो रहे थे वे दिशाएँ रजस्वला स्त्रियों की भाँति दिखाई दे रही थीं, उन के धूलि धूसरित केश ऐसे गंदे थे जैसे बाज के पंख होते हैं।"

बीभत्स में भी विकट शृंगार को निभा सकने की यह शैली कालिदास ने महाभारत रचयिता व्यास का अनुसरण कर अपनाई। व्यास ही में यह महान सामर्थ्य है कि वे भयानक रौद्र और बीभत्स रसों के बीच भी शृंगार को निभा कर आगे बढ़ा सकते हैं। कालिदास का शृंगार विलास और त्याग का कलात्मक समन्वय करता है। विरल आये हुए बीभत्स भाव भी उन के काव्य में अधिक देर नहीं टिकते। दूर से देखे हुए सर्प की भाँति वे जल्दी ही विलीन हो जाते हैं।

प्रकृति के शान्त और कोमल भाग का वर्णन कालिदास की भाँति केवल दो और कवियों ने किया है वे हैं रवीन्द्रनाथ और चन्द्रकुँवर बर्त्वाल। कालिदास ने जिस विषय को लिया है, चाहे वह आसमान में फिरता हुआ बादल, हो, उपलों में बिखरी हुई नदी हो, अपार समुद्र हो, अथवा भूमि में चुपचाप पड़ा हुआ एक छोटा-सा नू पुर हो, कोई भी अवस्था हो–बादलों को चूर-चूर करता हुआ रथ आस्मान में दौड़ रहा हो, ऊँची नीची भूमि में हरिण का पीछा सवेग कर रहा हो अथवा प्रसन्न आकास में धीरे-धीरे चल रहा हो, कहीं किसी महानगर का ध्वंसावशेष खड़ा हो अथवा कहीं दो महानदियाँ आपस में मिल रही हों, एकान्त में बर वधू बैठे हों अथवा समस्त पृथ्वी के राजागणों के बीच एक परम सुंदरी का स्वयंवर हो रहा हो, केशों में लताएँ बाँध कर गाय को ले कर कोई सुरीले झुरमुट में मर्मर सुन रहा हो अथवा रणक्षेत्र में भयंकर युद्ध कर रहा हो, किसी भी अवस्था को ले लीजिए, कालिदास ने उस का पूरा-पूरा चित्र खींचा है, उसे अच्छी तरह देखा है। कहा जा सकता है कि जन्म से ले कर मरण तक मानव जीवन के जितने दृश्य संभव हैं कालिदास की कविता में वे सब,

पाये जाते हैं। जितनी वस्तुएँ, जितने दृश्य, जितने भाव, मनुष्य के हृदय में चंचल बीचियों के समान उठा करते हैं कालिदास के काव्य में वे सब देखने को मिलते हैं। नीलाकाश की भाँति उन की कविता अपने नीचे उज्ज्वल हिम शिखरों को, चंचल नदियों को, काम रूपी मेघों को, प्रहलादक सूर्य्य चन्द्र को, विशाल जन पदों को, समृद्ध नगरों को, सुंदर नर-नारियों को, विविध-विविध फूलों को, अनंत सागरों को, अनेक रितुओं को तथा नाना रूप-रसों और स्वरों को आश्रय दिये है।

प्रकृति के हर्षोल्लास का चित्रण 'कुमार-संभव' के तृतीय सर्ग से अच्छा कहाँ है? अज और रति से करुण और किस के स्वर हैं? पुत्र को गोदी में भर कर, प्रेम से आँखें मूँद कर बैठ हुए दिलीप से सुखी और कौने है? चित्र-विचित्र रत्नों को धारण कर सिंहासनों पर बैठे हुए, इन्दुमती को वरण करने के लिए उत्सुक राजाओं से वैभव शाली और कौन होगा? घनघोर धूल उड़ाते हुए दिग्विजय के लिए प्रस्तुत रघु से कौन जीतेगा? यह मृगयाभि-सारी दशरथ हैं, ये धनुर्धर राम हैं. और यह एक ध्वंस भ्रंश नगर की राज लक्ष्मी, कुश के आगे बाँहें फैलाए खड़ी कुछ माँग रही है। सरयू के तीर, स्त्रियों के झुंड, सीढ़ियों से जल में विहार के लिए उतर रहे हैं। देवदार के नीचे स्थिर बैठे हुए ये शंकर हैं और ये उन को प्रणाम करती हुई, निर्वात दीप की भाँति पार्वती हैं, यह भुजमूल में धनुष धारण कर बसन्त के साथ कामदेव आ रहे हैं। यह शून्य हिमालय है, जिस में एक चट्टान पर शंकर के चरण चिन्ह हैं, जिस के चारों ओर भक्ति नम्र हो कर एक मेघ घूम रहा है। यह वैभव की नगरी अलका है, और यह शान्त मृगों का आश्रम

है जहाँ कि शकुन्तला अपनी कुटिया के आगे तल्लीन हो कर बैठी है। यह सज-धज कर बारात आ रही है। यह सेना जा रही है। यह जन्मोत्सव हो रहा है। ये श्मशान की ओर जाते हुए लोग हैं। यह चाँदनी रात में उर्वशी उतर रही है और यह चंचल मालविका नृत्य कर रही है। जीवन का कोई भाग ऐसा नहीं जिस से कालिदास का काव्य परिचित न हो।

(प्रकृति चित्रण) वाल्मीकि का सा सरल प्रकृति चित्रण कालिदास में नहीं मिलता। कालिदास की उपमाएँ पूर्ण हैं। उन की कविता में रूप, रस और गंध तीनों हैं. रूप ही रूप नहीं. रस ही रस नहीं और गंध ही गंध नहीं। रूप, रस और गंध उन के काव्य में सम भाव से मिले हैं। एक उदाहरण लीजिए—

यक्ष, मेघ से कह रहा है—हे मेघ! जिस के पंख को पुत्र स्नेह के कारण भवानी अपने कानों में धारण करती हैं और शिव के शिर के चन्द्रमा को देखने से जिस के अपांग अत्यन्त धवल हैं पावकी (स्कंद) के उस मोर को तुम अपने गम्भीर गर्जनों से नचाना—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी,
पुत्र प्रेम्णा कुवलयदल प्रापि कर्णे करोति ;
धौतापाङ्गं हरःशशिरुचा पावकेस्त मयूरं,
पश्चादद्रि ग्रहण गुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथा। (मे० मेघ ४४)

एक दूसरा उदाहरण लीजिये—

सीता से राम कहते हैं, धारासार से सिक्त पृथ्वी के धुएँ ने और कंदली (केले) के भिन्न हुए फूलों ने मिल कर, विवाह के धूम्र से अरुण हुए तुम्हारे नेत्रों की याद दिला मुझे व्यथित किया—(र० १३-२९)

आसार सिक्त क्षिति वाष्पयोगान् मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकाशैः,
विडम्ब्यमाना नवकंदलैस्तै विवाह धूमारुण लोचन श्रीः।

इस पद में वर्षा के गिरने से पृथ्वी पर उठता हुआ कुहरा कंदली के फूटते हुए लाल-लाल फूल, प्रिया का नवीन विरह और धूम से अरुण लोचनों की याद, ये सब मिल कर अपूर्व वेदना और अपूर्व सौंदर्य की सृष्टि करते हैं।

कालिदास के काव्य में इस प्रकार के उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं। रूप, रस और गंध के इस सहज और अपूर्व मिश्रण से कालिदास के काव्य में अवर्णनीय सौंदर्य आ गया है।

(महानता) विक्रमोर्वशीय नाटक में कालिदास, श्रोताओं से कहते हैं—

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सदवस्तु पुरुष बहुमानात्।
श्रुणुत जना अवधानात् क्रियामियां कालिदासस्य।

"अपने प्रेमियों पर दक्षिण हो (कृपा) कर, अथवा सद्-वस्तु या वस्तु-वर्णित पुरुष में आदर भाव के कारण, हे मनुष्यों! कालिदास की इस रचना (क्रिया) को तुम, ध्यान पूर्वक सुनो" इस का अर्थ यही हुआ कि प्रसिद्ध कथावस्तु तथा प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन, प्रसिद्धि बढ़ाने में सहायक होता है।

कालिदास ने सर्वत्र इस का पालन किया है। उन की कथावस्तु महान् है। कुमार संभव को लीजिए, महान् हिमालय पर्वतों में उस की नीव है, देवाधिदेव महादेव उस के नायक हैं, जगत जननी पार्वती उस की नायिका हैं, बसन्त, रति, इन्द्र, नारद आदि उस महाकाव्य नाटक में भाग लेते हैं और उस संपूर्ण नाटक का उद्देश्य—कुमार-जन्म—विश्व

कल्याण के लिए है। रघुवंश को लीजिए, पृथ्वी के महाप्रतापी राजा दिलीप,रघु, अज, दशरथ, राम, रावण, लव कुश तथा सीता, इन्दुमती आदि उस के पात्र हैं। मेघदूत को लीजिये सम्पूर्ण पृथ्वी को आशादान देने के लिए पर्वत के शिखर पर एक मेघ उठ रहा है जिस की स्निग्ध छाया में एक विरही की करुण व्यथा जग उठती है। शाकुंतलम् को लीजिए, सम्पूर्ण आर्यावर्त को अपने नाम से पवित्र करने वाले राजर्षि भरत की जन्म कथा का उस में वर्णन है।

कालिदास की कृतियों में कथा वस्तु ही नहीं, उपमाएँ उत्प्रेक्षाएँ भी महान् हैं। चित्र की रेखाओं के बीच आ कर रंग—धाराएँ जिस प्रकार से चित्र को पूर्ण और दर्शनीय बना देती हैं उसी प्रकार कालिदास की उपमाएँ उन के मूल भाव को सम्पूर्ण करती हैं। एक उदाहरण लीजिए —

राम कहते हैं, 'हे मानिनि ! यह शातकर्ण मुनि का पंचाप्सर नामक क्रीड़ासर है। इस के चारों ओर घना जंगल है और यह दूर से मेघों के भीतर चन्द्र—बिम्ब की भाँति थोड़ा थोड़ा दिखाई देता है — (रघु १३-३०)

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पंचाप्सरो नाम विहार वारि।
आभाति पर्यन्त वनं विदूरान मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुविम्बम्।

उपमा यदि न दी गई होती तो वाक्य केवल इतना ही था—'शातकर्ण मुनि का क्रीड़ासर पंचाप्सर नामक यह ताल है, इस के चारों ओर बन है, यह तालाव दूर से दिखाई देता है।' रेखाएँ मात्र ये हैं जिन में रंग कहीं नहीं, अब आती है उपमा, दूर से, 'मेघों के भीतर चन्द्र विम्ब की भाँति यह थोड़ा थोड़ा दिखाई देता है।' सहसा ही मेघों का साँवला रंग, पंचाप्सर के चारों ओर खड़े बन पर फैल जाता है और

चन्द्रमा की ज्योति से तालाव का जल थोड़ा सा चमक उठता है।

दिलीप की प्रशंसा में कालिदास कहते हैं—ये ज्ञानी होने पर भी मौन रहते थे, अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करते थे, शक्तिमान होने पर भी क्षमा करते थे और त्याग करने पर भी प्रशंसा से दूर रहते थे'—"ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ; त्यागेश्लाघा विपर्ययः (रघु व—२३)" ठीक यही बात कवि कालिदास के संबंध में भी कहा जा सकती है। वे दो शब्द कहते हैं और हमारे हृदय में तूफान उठ कर तिरोहित हो जाते हैं, हम अपने आनंद पर विस्मय करने लगते हैं कि हमारे हृदय में भी इतना रस था, और हमें इस का पता ही नहीं था? एक उदाहरण लीजिए रति कहती है—हे रति पंडित! तुम ने भरे अंगों में बसन्त-रितु के कुसुमों का यह आभरण स्वयं रचा था। फूलों के गहने तो मैं पहने हूँ केवल तुम्हारा वह सुन्दर शरीर नहीं दिखाई देता।'—

रचितं रतिपंडित त्वाया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम्
ध्रियते कुसुम प्रसाधनं तव तच्चारु वपुर्न दृश्यते। (कु०४-१८)

'कुसुमों के वे गहने तो मैं धारण किये हूँ, पर तुम्हारा वह सुंदर शरीर नहीं दिखाई देता,' इन शब्दों में कितनी वेदना है। और ये शब्द कितने सगर्भ हैं, कुसुम रहे, पर हे कुसुम-नाथ, बसंत के सखा तुम न रहे। अभी कुसुम भी नहीं मुरझा पाये हैं और तुम चले गये। इस जीवन की नश्वरता को धिक्कार हो, आदि ध्वनियाँ इस वाक्य से निकलती हैं।

इस अपूर्व संयम का सर्वोत्तम उदाहरण रघुवंश का चतुर्दश सर्ग है। सीता की सारी त्याग कथा एक घने बादल के बीच होती है। चारों ओर निराशा की काली घटाओं की

छाया पड़ी है। राम अपने भाइयों से परामर्श करते हैं। लक्ष्मण को आदेश देते हैं, लक्ष्मण, सीता को जंगल में छोड़ आते हैं। सीता, विग्न कुररी की भाँति क्रंदन करती हैं। बाल्मीकि उसे अपने आश्रम में ले जाते हैं, राम के दर्शन तक हमें नहीं होते, वे चुपचाप हैं। और एक दिन, लक्ष्मण आ कर (रघु-१४-६१ से ६७ तक में आये) सीता संदेश को कहते हैं, सहसा ही राम की तुषार वर्षी जैसी चन्द्र आँखें भर आती हैं, कुलीनता के विषय में चलने वाले लोकापवाद के भय से वैदेही को उन्हों ने घर से निकाला था, हृदय से नहीं।

(र १४-८४) वभूव रामः सहसा सवाष्पः तुषार वर्षीवसहस्य चंद्र
कौलीन भीतेन गृहान्निरस्ता, न तेन वैदेहसुता मनस्तः।

यह एक झलक कितनी करुण है तिस पर शब्द नहीं, विलाप नहीं, मौन, उतने दुख को चुपचाप सहन करती हुई।

(साधना) कालिदास की शक्तियाँ अतुल थीं। संसार के कवियों में वे ही ऐसे हैं जो कि ऊपर उड़े हैं, यों तो श्यैले (P, B. Shelley ४ अगस्त १७९२-८ जुलाई १८२२ ई०) भी 'दि क्लाउड' (The cloud) नामक कविता में धरातल से ऊपर उठे हैं, किन्तु कालिदास से ऊपर कोई नहीं उठा और ऊपर उठना, कालिदास को पसन्द भी है। बादलों में हम उन्हें बार-बार देखते हैं, पुरुरवा के रथ पर आज यदि हैं तो दुष्यन्त के रथ पर कल दिखाई देते हैं, रामचन्द्र के साथ पुष्पक पर अभी हैं तो दूसरे दिन मेघ के साथ, हम उन्हें पाते हैं, लेकिन हम उन के आभारी हैं कि उतने ऊपर जा कर भी उन्हों ने हमारी पृथ्वी को नहीं छोड़ा है। हमारे पर्वतों को हमारी नदियों को और हमारी पृथ्वी को वे नहीं भूलते।

(श० ७-८) शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी,
पर्णाभ्यन्तरलीनता विजहति स्कंधोदयात्पादपाः
संतानैस्तनुभाव नष्ट सलिला व्यक्ति भजंत्यापगाः,
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते।

'इन शैल शिखरों से जो कि अब स्पष्ट ऊँचे होते जा रहे हैं पृथ्वी नीचे की ओर उतरती दिखलाई दे रही है। पत्तों के अंदर वृक्षों के जो तने छिप गये थे वे दृष्टिपथ में अब आ रहे हैं। क्षीण रेखा की भाँति जो पहिले लग रही थी बढ़े जलकी वे नदियाँ अब बड़ी दीखने लगी हैं' मेदनी मेरे समीप आती जा रही है लगता है मानो किसी ने मेरी ओर उसे उछाल दिया है।'

विमानस्थित दुष्यन्त द्वारा दिये गये इस पृथ्वी वर्णन से अधिक मर्म स्पर्शी तथा हृदय को पृथ्वी से दूर ले जा कर दिखलाने वाली कविता, चन्द्रकुँवर कृत 'मृत्यु विजय' अथवा 'पृथ्वी रुदन' (विराट ज्योति) को छोड़ कर शायद दूसरी नहीं है। ऊपर से ऊपर उठ कर नीचे से नीचे की वस्तुओं का सूक्ष्म वर्णन कालिदासीय प्रतिभा ही कर सकती थी। पुष्पक विमान से, पृथ्वी पर के समुद्र में दिखाई देने वाले इन दृश्यों से अधिक स्पष्ट और सुन्दर चित्र क्या हो सकते हैं—

'तिमि मत्स्यों ने जीवों सहित पानी को अपने खुले मुखों में भर लिया है, मुँह बंद कर के जल—धार सी वे अब ऊपर फेंक रहे हैं। और इस समुद्र फेन को देखो जिसे सहसा ही उछलते मातंग नक्र दो भागों में विभक्त कर देते हैं और जो इन मातंग नक्रों के कपोलों में लगे रहने के कारण क्षण भर में चामरों का आभास दे देते हैं। और समुद्र तट की वायु सेवन के लिए निकले, महान् तरंगों के उद्रेक के समान ये

भुजंग, सूर्य की किरणों के संपर्क में आ कर प्रभामय हो रही फणों की मणियों से ही पहिचाने जाते हैं—(रघु १३)

१० ससत्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात्,
अमी शिरोभिस्तिमयः सरंध्रै, ऊर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान्।

११ मातंगनक्रैः सहसोत्पतद्भिः भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान्,
कपोल संसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम्।

१२ वेलानिलाय प्रसृता भुजंगा, महोर्मि विस्फूर्जथुनिर्विशेषाः।
सूर्य्यांशु संपर्क समृद्ध रागैः व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः।

किन्तु, कालिदास ने अपनी प्रतिभा के लिए तप भी कम नहीं किया था, उन के काव्य में यत्र-तत्र वे परिश्रम उन सोपान खंडों की तरह दिखाई देते हैं जिन से हो कर, सौन्दर्य के देवलोक में वे पहुँच थे। एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षे महिषी सखः।

शब्दों का कैसा खिलवाड़ है। इसी प्रकार नाटकों में भी लीजिए—काँटों में साड़ी उलझ जाना, नायिका का सस्पृह देखना इत्यादि बातें 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'शाकुन्तल' में समान रूप से मिलती हैं।

कालिदास अपने भावों को खूब दुहराते हैं। उन का उद्देश्य किसी भी विषय की कलात्मक अभिव्यक्ति में पूर्णता प्राप्त करना है। इस के लिए उन्हों ने परिश्रम भी खूब किया, उन की उपमाएँ इस बात की साक्षी हैं। परिश्रम और प्रतिभा के मणि कांचन संयोग से संसार के साहित्य में एक अपूर्व समृद्धि शाली सौन्दर्य की सृष्टि हुई जिसे कालिदास कहते हैं।